

द्विमासिक

शीराज़ा हिन्दी

५९

वर्ष १७ / अंक ४
(अक्तूबर-नवम्बर, १९८१)

●

प्रमुख सम्पादक
मुहम्मद यूसुफ टेंग

●

सम्पादक
रमेश मेहता

●

पत्र व्यवहार:
सम्पादक
शीराज़ा हिन्दी
जे० एण्ड के० अकादेमी
ऑव आर्ट, कल्चर एण्ड
लैंग्वेजिज़, नहर मार्ग,
जम्मू। फोन : ५०४०

●

मुद्रक : अमर आर्ट प्रेस,
मोती बाज़ार, जम्मू।

●

यह अंक : दो रुपये
वार्षिक शुल्क : दस रुपये

इस अं[illegible] के आकर्षण

शीराज़ा हिन्दी

अक्तूबर-नवम्बर, 1981

59

★

अपनी बात

★

सामन्तशाही युग में राजा अपने जिस किसी दरबारी कवि पर खुश होता था उसे ोतियों की माला, एक अदद हाथी मतवाला या बंगला आलीशान जागीरों वाला पुरस्कार में ्कर अपना यशोगान करवाता था। किन्तु स्वतंत्रता के साथ स्थिति कुछ इस तरह बदली कि 'अब राजा प्रजा का सेवक है" बाकी सब बेवक्त की ले-दे है। उसे हक नहीं कि किसी एक कवि या लेखक पर प्रसन्न होकर उसे मालामाल कर दे। परिणाम सामने है - आज सब लेखक कतार में खड़े अपनी बारी की प्रतीक्षा कर रहे हैं और सरकार विभिन्न अकादेमियों, संस्थाओं और विभागों के माध्यम से खैरात, जिसका सम्मानजनक नाम पुरस्कार है, बांट रही है।

पुरस्कार की बांट 'बंदरबांट' होती जा रही है—यह व्यथा हर उस लेखक की है जिसे कोई दूसरा 'सुपरसीड' करके पुरस्कार उड़ा ले जाता है। बड़े-बड़े दिग्गज पुरस्कार की ओर नज़रें लगाए दूसरों को गरियाते हुए देखे जा सकते हैं और पुरस्कार प्रदान करने वाली सस्था के गुणों पर महापुराण रच कर अमर हो जाने में अपना कल्याण देखने लगते हैं क्योंकि उन्हें ज्ञात है—'सितारों से आगे जहां और भी हैं'।

पुरस्कारों की योजना भाषा विशेष के लेखकों को साहित्य के उच्चतम शिखरों को छूने की प्रेरणा देने के लिए बनाई जाती है किन्तु आयोजकों को जब श्रेष्ठ रचना ही न मिले तो इसमें उनका क्या दोष ? यदि किसी श्रेष्ठ रचना की तुलना में किसी कमज़ोर रचना को ही,

खानापूरी के लिए, पुरस्कार मिल जाता है तो इसमें भी आयोजकों का कोई दोष नहीं होता है। अभी पिछले दिनों 'हम हशमत' की लेखिका ने इसी पुस्तक के पृष्ठ ७७ पर घोषणा की थी कि "जिस हिन्दी पुस्तक को अकादेमी पुरस्कार मिलना होता है उसे राजकमल प्रकाशित कर लेता है। …दोस्तो, यूं तो इनाम के पूरे मसले को पाक-साफ कहना परले सिरे का भोलापन है…" तब आप ही बताइए लोग यह अनुमान कैसे न लगाते कि लेखिका का स्पष्ट संकेत यह है कि इसी प्रकाशन गृह से प्रकाशित उसकी कृति 'ज़िन्दगीनामा' को पहले ही खण्ड पर साहित्य अकादेमी का पुरस्कार मिलने वाला है। और यदि लोगों का अनुमान सही निकल गया तो इसमें लेखिका या प्रकाशक का क्या दोष? रचना तो 'स्तरीय' है— एकांगी या अधूरी भले ही हो।

इससे भी अधिक रोचक स्थितियां तो उस समय उत्पन्न होती हैं जब किसी प्रादेशिक अकादेमी द्वारा अस्वीकृत पुस्तक को केन्द्रीय स्तर पर राष्ट्रीय पुरस्कार देकर सम्मानित कर दिया जाता है। समझ में नहीं आता कि ऐसे समय दाद किसे दी जाए—पुरस्कार न देने वाले को या उसे जिसने पुरस्कार दिलवाया है।

एक लम्बे अरसे से विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताओं से जुड़े रहने के कारण इतना तो जानता हूं कि प्रत्येक प्रतियोगिता के परिणाम घोषित होने पर असन्तुष्ट दल का जन्म न लेना उसी तरह अस्वाभाविक है जैसे किसी एक साहित्यिक कृति को सभी वर्गों के आलोचकों द्वारा एक श्रेष्ठ रचना के रूप में स्वीकार कर लिया जाना। फिर भी असन्तोष 'जैन्युइन' है कि नहीं इसकी जांच हमेशा जनमत की बहुतायत के रुझान को देखकर की जाती है। इधर देखने में आ रहा है कि जनमत में यह धारणा पुष्ट होती जा रही है कि पुरस्कार प्राप्त करने के लिए या तो व्यक्ति को दिवंगत हो जाना चाहिए या फिर एक लम्बे-चौड़े तंत्र का अंग बन जाना चाहिए। कुछ भाषाएं ऐसी भी हैं जहां अधिकांश लेखक इसी उम्मीद में जी रहे हैं कि 'आज नहीं तो कल बरसेंगे पुरस्कार के बादल'। किन्तु इन सारी स्थितियों के चलते पुरस्कारों का कितना अवमूल्यन हो गया है— यह सचमुच चिन्तित कर देने वाला मामला बन गया है।

गतांक में प्रकाशित अपने साक्षात्कार में कृष्णा सोबती जी ने 'ज़िन्दगीनामा' पर दिए गए पुरस्कार की चर्चा करते हुए कहा था कि यह सम्मान 'रचना' का है न कि 'रचनाकार' का। इधर जम्मू-कश्मीर प्रदेश भौगोलिक तथा आर्थिक दृष्टि से काफी सिमटा हुआ, छोटा और पिछड़ा प्रदेश है और यहां के लेखकों में आपसी ले-दे अभी उस सीमा को नहीं पहुंची जहां अखिल भारतीय स्तर की भाषाओं के लेखक पहुंच गए हैं। अतः स्पष्ट है कि यहां अगर कभी छिटपुट कोई शिकायत सामने आती है तो उसे ज्यादा महत्त्व नहीं दिया जा सकता। क्योंकि व्यक्तिगत अनुभव से, अकादमी का एक कर्मी होने के नाते, मैं जानता हूं कि यहां पुरस्कार 'लेखकों के ही द्वारा लेखकों' को दिए जाते हैं। किन्तु जिन बृहत्तर संदर्भों में अज्ञेय और यशपाल जैसे लेखकों को राष्ट्रीय पुरस्कार प्रणाली के प्रति शिकायत करने के लिए विवश होना पड़ा था उनके प्रति चिन्ताकुल होना एक सहज प्रतिक्रिया का प्रतिफलन ही माना जायेगा।

अतः विचारणीय है कि जिन उद्देश्यों को लेकर इन पुरस्कारों के वितरण की योजना बनाई गई थी एक बार पुनः हम उनका स्मरण करते हुए इनके लिए सही लोगों की तलाश करें ताकि सही लोगों को, सही और जैन्युइन लोगों द्वारा, गुट-निरपेक्ष रहकर, पुरस्कृत किया जा सके और एक महत्त्वपूर्ण संस्था* (पुरस्कारों) पर लगने वाले प्रश्नचिन्हों का सामना करने का नैतिक बल प्राप्त हो सकें।

—रमेश मेहता

---

* "नोबेल पुरस्कार के ज्यूरी बुर्जुआ हैं, इससे मेरा अर्थ उन लोगों से है जो पूंजीवादी समाज में पूर्णरूप से स्वीकृत हो चुके हैं।"

"सिद्धान्ततः वे उन लोगों को ही सम्मानित करेंगे, जो उनके विश्वासों को स्वीकार करते हैं। किन्तु समय-समय पर, वे किसी एक को जो उनके पक्ष में नहीं है पसन्द करना चाहते हैं, केवल अपनी उदारता को प्रदर्शित करने के लिए ही नहीं, परन्तु खास तौर से, उस व्यक्ति का उद्धार करने के लिए।"

"नोबेल पुरस्कार अस्वीकार करके, मैंने अपना उद्धार कराना इंकार कर दिया। पूंजीवादी देश में, लेखक एक जटिल स्थिति में है। एक तरह से वह एक ओझा है। वह बहुधा तिरस्कृत, परन्तु कभी-कभी सम्मानों से ढक दिया जाता है। **ये सम्मान उसकी वास्तविक हैसियत को बदलने में खतरे बन सकते हैं।** क्योंकि जब तक लेखक, परित्याग नहीं करता है, अवश्य ही आलोचक बना रहे। वह यथार्थ का आलोचनात्मक दर्पण है। वह कष्ट निर्माता है—उसे यही होना चाहिए। सम्मान जो उस पर बरसाए जाते हैं, वास्तव में उस बात के प्रयत्न होते हैं कि उस पर प्रतिबद्ध हैसियत आरोपित कर दी जाए, जो अनिवार्य रूप से, उसके कहे हुए के साथ, उसे आखिर तक दबाए।"

"यदि मैं नोबेल पुरस्कार स्वीकार कर लेता तो मैं उन लोगों का आदर खो देता जो मेरे साथ हैं। एक तरह से, मैं एकीकृत हो चुका होता।"

—ज्याँ पाल सार्त्र

अकादमी डायरी

★

★ जम्मू प्रदेश में रंगमंच की अपनी कोई विशेष परम्परा नहीं रही। यह अलग बात है कि प्रत्येक गांव, कस्बे और नगर में रामलीला का मंचन पूरे नवरात्रों होता रहता है। समकालीन संदर्भों में रंगमंच के महत्त्व को अनुभव करते हुए, इस सांस्कृतिक चेतना को विस्तार देने की अपेक्षा से अकादमी ने एक विशेष योजना बनाई है जिसके अंतर्गत जम्मू प्रांत में जिला-स्तर पर काम कर रही विभिन्न रंगधर्मी संस्थाओं के बीच नाट्य-प्रतिस्पर्द्धा का आयोजन किया जाता है।

इस वर्ष अक्तूबर-नवम्बर मास में निम्नलिखित स्थानों पर, उपरिलिखित योजना के अंतर्गत, नाटक प्रस्तुत किए गए—

१. १९-१०-१९८१ को शंकर ड्रामेटिक क्लब, मक्वाल द्वारा "सुन्ना ते स्वार्थ"
२. २०-१०-१९८१ को रघुनाथ ड्रामाटिक क्लब, रामकोट द्वारा "सुन्ना ते स्वार्थ"
३. २१-१०-१९८१ को राम नाटक क्लब, थेहाल द्वारा "सरपंच"
४. २२-१०-१९८१ को सुषम ड्रामेटिक क्लब, रामनगर द्वारा "राखस ते राजे दी बेटी"
५. २३-१०-१९८१ को अमेचर ड्रामाटिक क्लब, ज्योतिपुरम द्वारा "सिपाही"
६. २५-१०-१९८१ को महावीर क्लब, अरनिया द्वारा "देहरी"
७. ३०-१०-१९८१ को रामकृष्ण क्लब, जौड़ियां द्वारा "ढौंदियां कंधां"
८. ३-११-१९८१ को न्यू लाइट क्लब, चोहाला द्वारा "उलझन"
९. ४-११-१९८१ को कंचन क्लब, चोहाला द्वारा "ज़माना"

इस संदर्भ में सुषम ड्रामेटिक क्लब, रामनगर को १,०००/- रुपये का प्रथम पुरस्कार तथा राम नाटक क्लब, थेहाल को ७०० - रुपये का द्वितीय पुरस्कार प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त उत्कृष्ट अभिनय के लिए सर्वश्री जोगेन्द्र दुबे, चरण दास मंगोत्रा तथा श्रीमती ललिता तपस्वी को १५०/- रुपये प्रति व्यक्ति प्रथम पुरस्कार के रूप में तथा सर्वश्री वीरेन्द्र सिंह, रत्न चन्द शर्मा तथा सुभाष दत्ता, थोड़ू राम तथा कुमारी वीणा डोगरा को १००/- रुपये प्रति व्यक्ति द्वितीय पुरस्कार के रूप में प्रदान किए गए।

★ १३-१४ अक्तूबर १९८१ को कुल्लू में आयोजित विश्व-प्रसिद्ध दशहरा मेला के अवसर पर देश के अन्य भागों से आए सांस्कृतिक दलों के साथ जम्मू-कश्मीर के सांस्कृतिक दल ने भी अपने कार्यक्रम प्रस्तुत किए। भाषाई समानता के आधार के कारण इन कार्यक्रमों को इस मेले में विशेष रूप से समझा और सराहा गया।

———

इस अंक के दो विशेष लेख

रचना का धारणात्मक आधार

—गंगा प्रसाद विमल

प्रत्येक युग की मानसिकता का निर्माण अपने समय के मुख्य प्रश्नों से टकराहट से जुड़ी हुई चीज़ है। एक शांत, सपाट, तनावरहित रचनाधर्मिता की कल्पना, एक उदार, उदात्त मानसिकता की संभावना—कभी युगों पूर्व सच हो सकती थी। आज ऐसी किसी संभावना, उसकी अपेक्षा पर बहस करना भी मुमकिन नहीं जान पड़ता। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हमारे प्राचीन साहित्य का मुख्य स्वर केवल किसी परिकल्पनात्मक उदारतावाद का स्वर है—उस साहित्य का मुख्य स्वर भी अपने युगानुरूप प्रश्नों, समस्याओं से जूझते मनुष्य के लिए एक ऐसे संसार की कल्पना से भरा हुआ है जहां उसे "आनंद" की उपलब्धि हो। आनंद अर्थात् दुश्चिन्ताओं से मुक्ति—किन्तु यह उपलब्धि भी बिना किसी संघर्ष के संभव नहीं है। स्पष्ट है संघर्ष साहित्य की रचनात्मकता के लिए भी उतना ही जरूरी है जितना सामान्य जीवन को अपने अनुरूप ढालने के लिए विपरीत स्थितियों से लड़ना जरूरी है। अंतर सिर्फ इतना है कि प्राचीन जीवन-विधियों में जो सरलता थी, प्रश्नों के जो सहजतम उत्तर थे, समस्याओं के निदान की जो जटिलतारहित विधि थी—उसने उस समय की साहित्यिक प्रकृति को भी प्रभावित किया। आज के समय में ऐसी स्थितियां, ऐसे आधार इस लिए प्रासंगिक नहीं लगते क्योंकि हम न सिर्फ प्राचीन समय से आगे बढ़ आये हैं बल्कि हम मनुष्य की प्रकृति के उन दूसरे आयामों से भी परिचित हो गये हैं जो पहले कल्पनातीत थे। इस कारण मनुष्य के सामने जीवन की सरलता के स्थान पर जटिलताओं की एकदम नयी दुनिया आ पड़ी है। स्पष्ट है, पुरानी और नयी दुनिया, पुरानी दुनिया की समस्याओं और नयी दुनिया की विपदाओं में बहुत अंतर है। इस अंतर के रेखांकन एक ओर हमें प्राचीन अवशेषों और नये निर्माणों के बीच मिलते हैं तो दूसरी ओर प्राचीन मनुष्य की सर्जनात्मक कृतियों और नये मनुष्य की रचनात्मक कोशिशों में भी मिलते हैं। यद्यपि सर्जनात्मकता के मौलिक प्रश्न लगभग वे ही हैं जिनसे मानव जाति शताब्दियों से जूझती आ रही है परन्तु मौलिक अथवा मूलभूत आधारों के अन्वेषण की अनिवार्यताएं और दबाव बदल गये हैं। मस्लन सर्जनात्मकता के "दैवी" पक्ष पर आज

विचार करना उपयुक्त नहीं लगता इसलिए कि तर्क और वस्तुनिष्ठता के दो आधार "दैवी पक्ष" को केवल विश्वास या रहस्य का ध्रुव समझते हैं। लेकिन कुछ मौलिक आधार हैं जिन्हें लेकर सर्जक और भाष्यकार दोनों आज भी विचलित हैं और ये वही प्रश्न हैं जो रचनाओं में अपने अपने ढंग से प्रतिबिंबन भी पाते हैं।

मुख्य प्रश्नाधार है कि रचना की आवश्यकता क्या है? प्रयोजनवादी, उपयोगितावादी, कलावादी, शास्त्रवादी एवं नास्तिक इसका अपने विचारग्रहों के अनुरूप उत्तर देते हैं। आश्चर्य का विषय यह है कि सभी कालों के कलावादी या सभी कालों के उपयोगितावादी इन प्रश्नों पर एकमत नहीं हैं। कालिदास के समय के भाष्यकार या बीसवीं शताब्दी के कालिदास साहित्य के भाष्यकार एक जैसी सम्मति नहीं रखते। तो क्या सर्जनात्मक कृतियों की दुनिया को हर कोई अपने ढंग से व्याख्यायित करता है? क्या यह एक प्रकार की अराजकता नहीं है जिसमें निजत्वपूर्ण आग्रहों से हर एक अलग-अलग निर्णय पर पहुंचे? वस्तुतः ऐसा नहीं है। "रचना" के बहिरंग को लेकर भिन्न-भिन्न मत हो सकते हैं, कलेवर, प्रसंगों या कथाकोणों को लेकर भाष्यकार भिन्न-भिन्न ढंग से अपनी सम्मति प्रस्तुत करते हों परन्तु रचना के अंतरंग, उसके "अभिप्रेत" अर्थात् उसके धारणागत जगत के बारे में जो विचारणाएं आती हैं कभी-कभी वे भिन्न काल-सीमाओं में भी एक जैसी दिखाई देती हैं।

मस्लन रचना का लक्ष्य जिस पहले बिंदु से घोषित होता है वह है लिखना। आखिर वह कोई जरूरत है जहां से लिखने या रचने की कोई खास मजबूरी है। वह मजबूरी एक प्रकार का आध्यात्मिक दबाव भी हो सकती है और एक किस्म का भौतिक दबाव भी। रहस्य और यथार्थ दोनों में एक चीज एक-सी है वह है दबाव। इसे एक सामान्य समीकरण से समझ सकते हैं—"अ" मनुष्य सामाजिक स्थिति के विरुद्ध टिप्पणी करना चाहता है, प्राचीन काल से "सत्ता के भय" के कारण सीधे-सीधे कोई दल बना कर सत्ता के विरुद्ध आचरण द्वारा अपने को अभिव्यक्त करना कठिन काम था। उसे एक सर्जक भाषा के छद्म के सहारे सामने रखता है। अर्थात् "वोकल" अभिव्यक्ति की जगह वह मंद किस्म की भाषागत साहित्यिक अभिव्यक्ति में रूप पा लेता है।

अर्थ यह है कि प्रत्येक अभिव्यक्ति, यदि वह सही अभिव्यक्ति है तो वह किसी प्रचलित पक्ष के विरुद्ध अभिव्यक्ति होती है। एक सही साहित्य की जरूरत, उसका लक्ष्य प्राचीनतम काल से यही है। वह संस्कृति का कोई रूप क्यों न हो चाहे, रचना का स्वभाव या गुण एक प्रदत्त पक्ष के विरुद्ध प्रतिपक्ष में बैठना है। देखें कि यह बयान प्राचीन साहित्य के बारे में कहां तक सच है? उदाहरण कालिदास के प्रकृति काव्य मेघदूत को मानें—कहां है उसमें प्रतिपक्षी मुद्रा? वह तो सपाट प्रकृति-वर्णन है। मेघ की यात्रा और उसके भीतर रूमानी प्रेमकथा की एक महीन विवृति है। परंतु थोड़ा गहराई में जायें तो "मेघदूत" में भी हमें तत्कालीन व्यवस्था द्वारा लागू मूल्य व्यवस्था के बारे में काव्यगत टिप्पणियां मिलेंगी—पर इस खोज में हमें यह न भूल जाना चाहिए कि कालिदास के युग की क्या परिस्थितियां थीं? "प्रेम" और

प्रेमिक संदेश भेजने पर क्या-क्या सामाजिक अवरोध थे—कैसी मूल्यगत वर्जनाएं थीं। उन सबके रहते कालिदास ने प्रेम के अलौकिक, अबाधित, कोमल और सार्वजनिक रूप से अस्वीकृत प्रेम को अत्यंत साहसपूर्वक कथा या गाथा या कल्पना के छद्म में प्रस्तुत किया था। यह प्रस्तुत करना ही एक प्रकार से प्रचलित सामाजिक आचरणों के प्रतिपक्ष में खड़ा होना था। परन्तु जैसा पहले कहा गया है, आज से कुछ सौ वर्ष ही पूर्व, कुछ हजार वर्ष तो छोड़ ही दें, मनुष्य की जीवनगत स्थितियां अपेक्षाकृत सरल थीं, आज वे जटिल हैं।

जटिल सामाजिक स्थितियों में रचना का लक्ष्य या प्रयोजन ही नहीं बल्कि रचना या सर्जन की मुख्य जरूरत व्यवस्था के प्रति विद्रोह प्रकट करना है। अतः विद्रोह या विरोध रचनाकार की मानसिकता का एक अपरिहार्य, अनिवार्य बिंदु है। यहां से हम आधुनिक अर्थात् बीसवीं शताब्दी में प्रचलित ऐसी ही विचारगत धारणाओं पर विचार कर सकते हैं, इस लिए भी कि बीसवीं शताब्दी में आकर जीवन-विधियों में न सिर्फ रूपगत परिवर्तन आया है अपितु मानव-विश्वासों की दृष्टि से भी एक स्पष्ट, अतीत से भिन्न परिवर्तन परिलक्षित होता है।

साहित्य, अर्थात् रचनागत आधारों पर हम पायेंगे कि बीसवीं शताब्दी ने जहां साहित्य की भूमिका को अवमूल्यित भी किया है। दोनों स्थितियों में साहित्य के अभिप्रेरक तत्व के रूप में जो "धारणा" रही है वह "विद्रोह" की धारणा है। हिन्दी साहित्य तक ही सीमित हों तो हम पायेंगे कि बीसवीं शताब्दी की यह नियति है कि उसके तमाम साहित्यिक आंदोलनों का पूर्ववर्ती आंदोलनों या पीढ़ियों की रचनागत उपलब्धियों से विरोध रहा है। वह बेशक बीसवीं शताब्दी का शास्त्रीय रचनाओं के प्रति विशेष मोह ही क्यों न रहा हो। बहुत से विश्व प्रसिद्ध काव्य, कथाओं, एवं नाटकों में प्राचीन निजंधरी कथाएं या प्रतीक या मिथक या शास्त्रीय (क्लासिकल) प्रसंग भरे पड़े हैं—परन्तु उनके उपयोग का विशिष्ट लक्ष्य बीसवीं सदी के मनुष्य की छटपटाहट, उसकी अंतर्व्यथाओं को व्यक्त करना रहा है, साथ ही साथ कभी-कभी आक्रामक मुद्रा में सभी प्रचलित स्थितियों को नकारते हुए रोष प्रकट करना भी रहा है।

वस्तुतः बीसवीं शताब्दी की संपूर्ण स्थितियों में बदलाव एक ऐसा सत्य या बिंदु है कि हम उसे यथार्थ के परिदृश्य में ही देख सकते हैं। यह बदलाव समग्र मानसिकता का है। प्रजातन्त्रों के नये प्रयोग और सत्ता के सामूहिकीकरण जैसी स्थितियों ने मनुष्य को अपनी भौतिक नियति के बारे में बार-बार पुनर्विचार के लिए तैयार किया है। राजनैतिक सत्ताओं के बदल या क्रांतियों में भौतिक नियति को मानवानुरूप करने की कोशिश हुई है। क्रांतियों की सफलता और पुरानी व्यवस्थाओं की विफलता ने मनुष्य को एक महत्वपूर्ण तथ्य और महत्वपूर्ण विश्वास से परिचित किया है कि आदमी चाहे तो वह भी परिवर्तन उपस्थित कर सकता है। अर्थात् "नियति" के प्रश्न को अपनी सामाजिक स्थितियों में सुखकर परिवर्तन ला कर बदल सकता है। मानव नियति के प्रश्न पर आत्मविश्वास से भरा यह कदम वह दूसरा छोर है जहां से बीसवीं शताब्दी के बहुत से आशावादी स्वप्न आरम्भ होते हैं। परन्तु स्थितियां इतनी सामान्य या सरल नहीं थीं कि बदलाव के साथ ही स्वतंत्र भौगोलिक इकाईयों में वह रूपांतरण उपस्थित

हो जाता जो परिवर्तनकामी मानस का लक्ष्य होता है। बीसवीं शताब्दी ने ही मनुष्य के सामने विपदाओं के पहाड़ खड़े किए हैं। कहने का अर्थ यह है कि विभिन्न भौगोलिक इकाईयों में इतिहास और संस्कृति के दबाव कुछ ऐसी समस्याएं पनपाते रहे हैं जिसने मनुष्य चेतना को प्रभावित किया है। एक ओर उदारतावाद प्रभावित करता है तो दूसरी ओर राष्ट्रवादी संकीर्णताएं भी। रचनारत मानसिकता ने यदि उदारतावाद का स्वागत किया है तो कहीं-कहीं वैचारिक स्तर पर राष्ट्रवादी संकीर्णताओं पर कोई भी टिप्पणी नहीं दी। इससे अर्थ लगाया जा सकता है कि प्रच्छन्न तौर पर संकीर्णताओं का समर्थन—उसकी उपेक्षा के भाव से भी व्यक्त किया जा सकता है किन्तु बीसवीं शताब्दी के आरंभिक तीन दशकों के पश्चात् वैचारिक धरातल में एक गुणात्मक परिवर्तन आता है। कह सकते हैं कि समकालीन मानसिकता के मूल बिंदु उसी धरातल से फूटते हैं। भारतीय स्वाधीनता संग्राम में क्रांतिकारी दस्तों की छुटपुट सफलताएं, उनके आत्मत्याग के आदर्श—ये सब भारतीय रचनाकार के मानस पर प्रभाव डालते हैं। यदि उस दौर में केवल विदेशी सत्ता से लोहा लेने की संकल्पना साहित्य रचना का मूल स्वर था—तो स्वतंत्रता के बाद उसमें क्रमशः आक्रामकता की तीव्रता बढ़ी है एवं अब विरोध या संघर्ष का लक्ष्य सिर्फ सत्ता नहीं अपितु अवमूल्यित होते जाते संपूर्ण समाज की वे स्थितियां हैं जो एक वर्ग विशेष के लाभ-हित के लिए समर्पित हैं। हम पायेंगे कि स्वतंत्रता के बाद हिन्दी रचनाकारों का एक बड़ा वर्ग "प्रतिपक्ष" की मुद्रा का वर्ग बना है। तत्कालीन सत्तापेक्षी मूल्य चेतना का मूलधारा के प्रति तिरस्कार का भाव—इस रचनाकार वर्ग की उन तमाम "सिनिकल रचनाओं" में मिलता है जिनकी व्याख्याएं एकांगी तौर पर की जा रही हैं। होना यह चाहिए कि उस दौर की संपूर्ण मानसिकता के परिदृश्य में ही उन सर्जनात्मक मुद्राओं का विश्लेषण किया जाये। यहां हम केवल उदाहरण के लिए इस तथ्य का उल्लेख करना चाहते हैं कि स्वतंत्रता के बाद सत्ताधारी राजनैतिक वर्ग के पास शायद ही कोई महत्वपूर्ण लेखक था। शायद इसका कारण यही हो कि रचनाकार का मूल स्थान, सही स्थान सत्ता या मूल्य संरचना की नियन्ता उन तमाम संस्थाओं के प्रतिरोध में खड़ा होना है जो मनुष्य को किसी न किसी बंधन में बांध देती हैं। यह केवल हिन्दी रचना-जगत में ही दृष्टिगत हो—ऐसा नहीं, अपितु समग्र भारतीय भाषाओं के साहित्य में रचनाकारों की इस प्रतिरोधी मुद्रा के दर्शन किए जा सकते हैं।

स्वतंत्रता के पश्चात् सातवें दशक में विरोध और प्रतिपक्षी मुद्राएं अधिक आक्रामक दिखाई देती हैं। ये आक्रामक मुद्राएं एक ओर स्थापित मूल्य-धारणाओं और मनुष्य के सहज नैतिक विश्वासों पर प्रहार करती हैं तो दूसरी ओर एक संघर्षकामी विकल्प का समर्थन करती हैं जो बाद में चल कर "हिंसा से परिवर्तन" के सिद्धांत को प्रचारित करती हैं। सातवें दशक में ही बंगाल, आंध्र प्रदेश और उत्तर भारत में ऐसे राजनैतिक मतवादों का समर्थन लगभग सभी लेखकों की रचनाओं में मिलेगा। यह आकस्मिक नहीं कि सीमा-विवादों को लेकर अधिकांश रचनाकार जब खामोश रहे तब सत्ता प्रतिष्ठानों के लेखकों ने उन विवादों का

"व्यवसायीकरण" किया है, ठीक इसके विपरीत भारतीय मूल्य चिन्ता के प्रति सजग लेखकों के एक बड़े समूह ने अपने ही देश में हिंसा, असुरक्षा और सीमित स्वतंत्रता के मुद्दों पर अपना विरोध प्रकट किया है।

यह एक तथ्य है कि सातवें और आठवें दशक में संघर्ष के प्रति खुले समर्थन और विरोध की मुद्राएं अधिक स्पष्ट हुई हैं। इनके मूलाधारों पर विचार करना आवश्यक होगा। यह निश्चित है कि फैशनानुगामी विरोध बहुत अधिक सार्थक भूमिका नहीं निभाता जबकि आस्था और प्रतिबद्धता के वैचारिक आग्रहों के प्रतिरोधी स्वर में एक खास किस्म की सार्थकता छिपी होती है। संघर्ष का मूलाधार है जन-चित्त में फैली एक व्यापक निराशा। सत्तानुगामी उच्च वर्गों के कारनामों के कारण सत्ता और उच्च वर्ग पूंजीपति, व्यापारी में अविश्वास। यह अविश्वास जैसे-जैसे गहरा होता जाता है, वैसे-वैसे हलचल और बेचैनी बढ़ती जाती है। इसे सीधे-सीधे राजनीति की पारिभाषिक शब्दावली में व्याख्यायित किया जाये तो कहना पड़ेगा कि भारतीय अधिसंख्यक समाज, अपनी तमाम जातिगत जटिलताओं के एक वर्ग के रूप में, जोकि कई उपसर्गों की एक इकाई कही जा सकती है—बिंबित होता है। ऐसे व्यापक अधिसंख्यक वर्ग की चिन्ताओं की केवल परिगणना कर देना रचनाकार के लिए पर्याप्त नहीं था, वह अपनी दृष्टि से और जन-संघर्ष की दबी चिन्गारी को भांप कर, अपनी रचनाओं में कभी प्रकट और कभी अप्रकट रूप से संघर्ष को चित्रित करता रहा है।

वस्तुतः विद्रोह और सक्रिय असहमति या संघर्ष किसी तरह की बाहरी वस्तु नहीं है—जहां वह बाहरी आरोपण लाता है वहां सर्जनात्मकता के साथ उसका तालमेल नहीं होता, लेकिन जहां वह सर्जनात्मकता की जरूरत का हिस्सा है, स्वर रचना की अंतरगता प्रकट करता है। अतः यह आवश्यक है कि विद्रोह के स्वरों, उकके तमाम प्रासगिक बिंदुओं का परीक्षण किया जाना चाहिए। स्थूल रूप से विद्रोह, असहमति, आक्रामकता, विप्लव और संघर्ष जैसी अवधारणाओं को "युवा मानस" की नैसर्गिक अभिव्यक्ति मान लिया जाता है परन्तु इसका सूक्ष्म विवेचन स्पष्ट करता है कि दासता, प्रताड़ना, शोषण और दमन के दौर में मानवीय अभिव्यक्ति के रूप में विद्रोह व्यंजित होता है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरशती वर्षों में विद्रोह की अंतर्राष्ट्रीय व्याप्ति के कुछ दूसरे कारण भी हैं। मुख्य रूप से राजनैतिक धरातल पर "विद्रोह" और "विरोध" प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं की सर्जनात्मक मानस बाहरी स्तर पर घटित उन तमाम बिंदुओं से अपनी रचना के लिए विचार, विषय और भावधाराएं चुनता है, बाहरी घटनात्मकता के प्रभावों को संवेद्य धरातल पर संवेदनात्मक आकृतियां देता है। अतः एक कोण से बाहरी घटनाओं के प्रभाव क्षेत्र बनते हैं तो दूसरे कोण से वे संरचनात्मक दबाव का रूप ग्रहण करते हैं—दोनों रूपों में रचनात्मक मानस जिस वृत्ति का निर्माण करता है, वह मानसिकता वास्तव में एक धारणात्मक आधार बनती है। स्पष्ट है कि इन सब अंतर्धाराओं का रचनात्मक मानस से अत्यंत अर्थपूर्ण सम्बंध है। अर्थपूर्ण अंतर्सम्बंधों के अनेक आयाम, अनेक पक्ष इन कुछ दशकों की रचनाओं में अन्वेषित किए जा सकते हैं। यह कहना असंगत न

होगा कि विषयों और प्रयोगों का वैविध्य होते हुए भी आज की रचनाओं का मुख्य लक्ष्य एक प्रतिरोधी धुरी के रूप में उस समग्रता को व्यंजित करना है जो सामान्य रूप में ठीक-ठीक व्याख्यायित नहीं हो पाती। विरोध, संघर्ष, असहमति आदि—जो धारणाओं की छोटी-छोटी इकाइयां जान पड़ती हैं—रचनाओं में वे एक महत्तम आधार, एक महत्तम प्रयोजन जान पड़ती हैं। कहना पड़ेगा कि आज की मानसिकता—हमारे समकाल का विराट अनुभव, हमारे समकाल का दायित्वबोध इसी धारणागत प्रतीति में अभिव्यक्ति पाता है।

—२६/५३, रामजस रोड,
करोल बाग, नई दिल्ली-५

निवेदन

★ प्रकाशित रचनाओं पर उपयुक्त पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है।

★ जम्मू—कश्मीर में कला, संस्कृति और साहित्य के आकलन और उसके विकास को रेखांकित करने वाली सामग्री को शीराज़ा में वरीयता दी जाती है।

★ रचनाएं कागज़ के एक ओर सुबाध्य अक्षरों में लिखकर अथवा टाईप करवा कर भेजें। कॉर्बन-कॉपी पर विचार नहीं किया जाता है अतः उसे अपने पास ही रखें तो बेहतर होगा।

★ स्वीकृत अथवा विचाराधीन रचनाओं की सूचना यथासमय भेज दी जाती है। अस्वीकृत रचनाओं को लेकर किसी प्रकार का पत्राचार अपेक्षित नहीं है।

★ 'पुस्तकें और पुस्तकें' स्तम्भ के अंतर्गत समीक्षा के लिए पुस्तक की दो प्रतियां भेजना आवश्यक है।

—सम्पादक

हिन्दी के आंचलिक उपन्यास

—डॉ० विवेकी राय

भारत जैसे बहुरंगी प्रादेशिक रूपाभा वाले देश के हिन्दी-कथा-साहित्य में आंचलिकता की मूल प्रवृत्ति और उसके प्रयोग के आरंभ के अन्वेषण में रूढ़िबद्ध अवधारणाओं से मुक्त होकर बीसवीं शताब्दी के आरंभिक काल तक की यात्रा करना उचित होगा। विशिष्ट शिल्प के अर्थ में यद्यपि आंचलिक उपन्यास शिल्प का प्रथम उद्घोष फणीश्वर नाथ रेणु के उपन्यास 'मैला आंचल' (१९५४) की भूमिका में हुआ और इससे स्वातंत्र्योत्तर कथा-शिल्प का पूर्व कथा-शिल्प से भिन्नत्व स्पष्ट किया गया तथापि इस प्रवृत्ति की और अधिक प्राचीनता बहुत स्पष्ट है। डॉक्टर प्रताप नारायण टंडन इसका आरंभ आचार्य शिव पूजन सहाय की कृति 'देहाती दुनिया' (१९२५) से मानते हैं तो डॉ० सत्यपाल चुघ सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की कृति 'बिल्लेसुर बकरिहा' से मानते हैं। 'देहाती दुनिया' में भोजपुर अंचल को उसके समस्त मुहावरों-मिथकों के साथ इस रूप में चित्रांकित किया गया है कि 'एक दम अपढ़ गंवार भी बिना किसी सहायता के उसका एक-एक शब्द समझ ले।' इसी प्रकार 'बिल्लेसुर बकरिहा' में अवध अंचल के विशिष्ट सामाजिक जीवन, इसकी रूढ़ियों-विकृतियों और संकीर्णताओं सहित उसमें माटी की मौलिक गंध की पकड़ है। डॉक्टर बदरी दास इस प्रवृत्ति के विकास को चार-पांच दशक और पीछे खींच ले जाते हैं। अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी उपन्यास : पृष्ठभूमि और परम्परा' में आंचलिक उपन्यास को प्रादेशिक उपन्यास की संज्ञा देकर जिस प्राचीन परम्परा का उल्लेख उन्होंने किया है वह सन् १८९३ से आरंभ होती है जब भुवनेश्वर मिश्र की कृति 'घराऊ घटना' प्रकाशित होती है और बाद में इसी कथाकार की एक और कृति 'बलवन्त भूमिहार' (१९०१) प्रकाश में आती है। इनके अतिरिक्त जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी की 'बसन्त मालती' (१८९९), जिसमें मुंगेर ज़िले के मलयपुर अंचल के मल्लाहों का जीवन, हरिऔध की कृति 'अधखिला फूल' (१९०७), गोरखपुर अंचल की रूपाभा से युक्त, गोपाल राम गहमरी की कृति 'भोजपुरी ठगी', रामचीज़ सिंह का 'बन विहंगिनी' (१९०९), संथाल परगना के आदिवासी क्षेत्र की कोस-कुमारियों के जीवन-संघर्ष से युक्त, ब्रजनन्दन सहाय की रचना 'अरण्यबाला' (विन्ध्याचल के पर्वतांचल का जीवन-चित्र) और मन्नन द्विवेदी की कृति 'रामलाल' (१९१४) जिसमें गोरखपुर जिले की बाँसगाँव, तहसील के एक गांव की जीवन-छवि और

स्थानीय रंग से परिपूर्ण अन्य अनेक कृतियां महावीरप्रसाद द्विवेदी युगीन आंचलिकता को बहुत स्पष्ट रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। कृषि क्षेत्र, आदिवासी क्षेत्र और पर्वतीय क्षेत्र आदि की आंचलिकता के विकास बीज इन कृतियों में निहित हैं। इन कृतियों में शिल्प का जो प्राचीन, अनगढ़, परम्परित और स्थूल रूप दिखायी देता है उसे तराश कर चुस्त-चुटीला बनाकर और आधुनिक सूक्ष्म शिल्प भंगिमाओं से जोड़कर स्वातंत्र्योत्तर कालावधि में रेणु ने उसे स्वतंत्र, प्रासंगिक और प्रभावशाली उपन्यास-शिल्प के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया।

स्थानीय रंग जैसी आंचलिकता प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी अत्यन्त सरल रूप में रेखांकित की जा सकती है परन्तु छठवें दशक में स्वतंत्र देश की सर्वथा नयी संवेदना और नयी चुनौतियों को लेकर हिन्दी उपन्यास-साहित्य में आन्दोलन की तरह उभरी आंचलिकता में जो शिल्पगत नवोल्लास था वह अभूतपूर्व था। वह किसी प्रवृत्ति का अंश नहीं, सम्पूर्ण प्रवृत्ति का प्रकाशन था। अथवा यह एक कथासाहित्यगत नवीन सृजन की एक सम्पूर्ण मौलिक शिल्पधारा थी। इस कालावधि में आंचलिकता और आधुनिकता का विकास कथा-साहित्य के दो महत्त्वपूर्ण छोरों के रूप में हुआ और स्वातन्त्र्योत्तर कथा-साहित्य में ग्राम जीवन का अवतरण प्रायः आंचलिकता के अर्थ में ही समझा गया। वास्तविकता यह है कि आंचलिकता ग्रामांकन की एक शैली अथवा ग्रामभित्ति नये कथा-साहित्य की एक प्रवृत्ति के रूप में विकसित हुई। मूलतः यह बहिर्वृत्ति है और विविध रूपों में बहुत दूर तक अपनी गहरी लीक बनाती है। कुछ उपन्यासों में भारत जैसे विशाल और वैविध्य-वैचित्र्य सम्पन्न राष्ट्र की प्रादेशिक रूपाभा अति चटकीले सांस्कृतिक रंगों में उभरती है और बिहार के पूर्णिया और मध्यप्रदेश के बस्तर से लेकर पूर्वी उत्तर प्रदेश, बुन्देलखण्ड, छत्तीसगढ़, राजस्थान, महाराष्ट्र, तिब्बत, मणिपुर और अंडमान आदि की प्रादेशिक इकाइयां अपनी पृथक् अन्तरंग-बहिरंग झलकियों के साथ प्रस्तुत की जाती हैं। अविकसित आदिवासी और जंगली जन-जातियों को जो मालवा, संथाल परगना, बस्तर, बुन्देल-खण्ड और राजस्थान आदि में निवास करती हैं आंचलिक उपन्यासकारों ने समारोह संभवी उत्साह में उठाकर चित्रांकित किया है। प्रादेशिक रूपाभा के चितेरों में रेणु, बलभद्र ठाकुर, गोविन्द वल्लभ पंत, रामदरश मिश्र, बलवन्त सिंह और नागार्जुन आदि और जंगली आदिवासियों के अंकन-कर्ताओं में राजेन्द्र अवस्थी, शानी, वृन्दावन लाल वर्मा, जयसिंह, रांगेय राघव, देवेन्द्र सत्यार्थी और श्याम परमार आदि का कृतित्व स्मरणीय है। शैलेश मटियानी और शिवानी आदि में पर्वतांचलिकता है। विशेषकर शैलेश मटियानी ने पर्वतीय जन-जीवन की छवि-लेखा को गहरी रागात्मकता के साथ अंकित किया है। विश्वसाहित्य के श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यासों में सरितांचलिकता की प्रवृत्ति महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी में इस धारा को रेणु, मधुकर गंगाधर, देवेन्द्र सत्यार्थी, भैरव प्रसाद गुप्त और रामदरश मिश्र आदि प्रवाह प्रदान करते हैं और कोसी, गंगा, ब्रह्मपुत्र और राप्ती आदि नदियों का तटवर्ती जीवन-सघर्ष हिन्दी-पाठकों के सामने विशेष आंचलिक आकर्षणों के साथ मूर्त्त हो उठता है। कथाकार राही जैसे कुछ रचनाकारों ने भौगोलिक ग्राम-इकाई का अंकन कर सघन आंचलिकता का प्रयोग किया है तो उदयशंकर भट्ट जैसे कथाकारों में समुद्रतटीय जीवन-छवि को अंकित करने की प्रवृत्ति है। उन्होंने बम्बई के पार्श्ववर्ती मछुवारों के गांव बरसोवा को उठाया है। स्वतंत्र भारत में शरणार्थियों की

कालोनियों और नगरों के विस्तार के साथ उसके साथ बाहर की ओर नत्थी होते जाते जन-जीवन-प्रसार के रूप में नये किस्म के ग्रंचलों का उदय हुआ है। रेणु, अमृत लाल नागर और गिरधर गोपाल आदि कथाकारों में ऐसे ग्रंचलों का मार्मिक स्पर्श है। इस तरह हिन्दी उपन्यासों की यह आंचलिक विविधता **परती परिकथा, मैला आंचल, बाबा बटेसर नाथ, कलावे, मुक्तावर्ता, जल टूटता हुआ, हौलदार, गंगामैया, ब्रह्मपुत्र, आधा गांव, सागर, लहरें और मनुष्य, जलूस, कस्तूरी, कब तक पुकारूं और जाने कितनी आंखें** आदि उपन्यासों में अत्यन्त मार्मिकता के साथ प्रकाशित हुई है।

किसी विशेष ग्रंचल के लोकजीवन सहित उसकी आस्था, भाषा, कला-रुचि, रूढ़ियों, गीत-नृत्य और तमाम-तमाम अतीतमुखी सांस्कृतिक बुनावटों को कोई कथाकार तरल रागबोध के स्तर पर सोद्देश्य डालता चलता है तो उससे मूल्यवान आंचलिक कथा-साहित्य का सृजन होता है। स्वाधीनता आन्दोलन के सिलसिले में महात्मा गांधी आदि नेताओं के द्वारा 'गांवों की ओर लौटो' का जो नारा दिया गया था, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य में उसी का एक आवर्तन आंचलिकता की प्रवृत्ति के रूप में प्रतिफलित हुआ। इसमें आत्मान्वेषण के साथ आत्मप्रदर्शनपूर्ण ध्यानाकर्षण वृत्ति है। स्वातन्त्र्योत्तर कथा-साहित्य का यह ऐतिहासिक सत्य है कि आधुनिकता के संदर्भ में सर्वप्रथम ग्रामीण जीवन अथवा विकसित-अविकसित आंचलिक इकाइयों के आधार पर प्रस्तुत कथा-साहित्य ने ध्यान आकृष्ट किया था। स्वतंत्रता के बढ़ते चरण के साथ जैसे-जैसे देश में औद्योगीकरण, संकेन्द्रण, अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावों के साथ बेकारी-महगाई और भ्रष्टाचार आदि का दबाव बढ़ने लगा, कथा-साहित्य ने ग्राम-जीवन की आकर्षण-हीन निर्जनता से अपना रुख पलट लिया। सन् ६० के आसपास नगरबोध ही आधुनिकता का पर्याय हो गया। आधुनिकता और आंचलिकता की प्रवृत्तियां ग्राम कथानकों को दो दिशाओं में ले जाती हैं। प्रायः दोनों विपरीतमार्गी हैं। लोकरंग और लोकजीवन से सम्पन्न आंचलिक उपन्यास ने स्वच्छन्द, सरल, सीधे, अकृत्रिम वन्य या ग्राम-जीवन को असाधारण भाषा में उठा समग्र युगचेतना को आन्दोलित किया। इतना होते हुए भी आंचलिक शिल्प और ग्राम-कथा-शिल्प में अन्तर है। ग्राम-जीवन-चित्र में चटक स्थानीय रंग के साथ जब किसी विशेष आंचलिक इकाई की समस्याओं, जीवन-संघर्ष-सूत्रों की गहन बुनावट, रूपवादी स्पष्टता और विशिष्टता के साथ उभरती है तब हम उसे आंचलिक शिल्प के अन्तर्गत परिगणित करते हैं। इस सर्जनात्मक प्रवृत्ति के पीछे सांस्कृतिक दृष्टि होती है जो विश्व-जीवन के मूल कृषक-जीवन और कृषि-क्षेत्रों से सम्पृक्त है। हिन्दी में ही क्यों, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में विश्व साहित्य समानान्तर आंचलिकता के पीछे सांस्कृतिक पुनरुद्धार की एक अन्तरान्दोलित प्रवृत्ति क्रियाशील प्रतीत होती है। जिस प्रकार हार्डी में इंगलैंड का वेसेक्स ग्रंचल और विलियम फाकनर में अमरीका के दक्षिणी ग्रंचल अपने समस्त रसगंधों के साथ उभरते हैं उसी प्रकार रेणु में पूर्णिया ग्रंचल, गणेश नारायण दांडेकर (मराठी) में बराड़ ग्रंचल, रीतनाथ भादुड़ी में बंग-ग्रंचल और झवेर चन्द्र मेघाणी (गुजराती) में सौराष्ट्र ग्रंचल उजागर हो जाते हैं। योरप सहित विश्व और भारत के बीच आंचलिक साहित्य के निर्माणारंभ के बीच यद्यपि पूरी एक शताब्दी का अन्तराल है तथापि आश्चर्यजनक रूप से हम सर्वत्र प्रवृत्तियों की एकरूपता पाते हैं। हेमिंग्वे

और उदयशंकर भट्ट दोनों को सागर और संघर्ष-रत मनुष्य अनुप्राणित करते हैं। इसी प्रकार मार्कट्वेन और शोलोखोव को मिसिसिपी और दोन जैसी नदियां उसी तरह आन्दोलित करती हैं जिस प्रकार रेणु को कोसी और देवेन्द्र सत्यार्थी को ब्रह्मपुत्र। यहां स्थिति वन्य जातियों के चित्रण आदि के संदर्भ में है। इस प्रकार अपनी विशेष अन्तरधारा सम्पन्न बनावट के कारण हिन्दी आंचलिक उपन्यास अन्तर्राष्ट्रीय सृजन के क्षितिजों को छूता दृष्टिगोचर होता है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में आंचलिकता के उन्नायक कथाकार फणीश्वरनाथ रेणु में युगान्तरकारी परिवर्तनों का सीधा साक्षात्कार है। ऐसे परिवर्तनों के आयामों को रेखांकित करने बैठते हैं तो वस्तुतात्त्विक दृष्टि से कृषि क्रांति और शिल्प दृष्टि से आंचलिकता उभर कर हमारे सामने आता है। इन दोनों में ही नया मूल्य चेतना, प्रजातांत्रिक चेतना और निर्माण चेतना प्रकट-अप्रकट रूप से प्रेरक तत्त्व के रूप में उपस्थित मिलेगी। अपने प्रथम उपन्यास 'मैला आंचल' (१९५४) में कथाकार इतिहास का ठीक संक्रांति कालीन सीमा पर दिखायी देता है। वह सन् ४६-४७ के परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन ग्रामीण लोकमानस का तटस्थ विश्लेषण करके स्फूर्ति प्रदायी आनयन उपस्थित करता है। पूर्णिया जिले के जिस एक पिछड़े गांव को वह अंकित करती है उसमें चतुर्मुखी अवमूल्यन, विघटन, गिरावट और नैतिक-विद्रोह की सरगर्मी है। स्वराज्य की छाया मैले ग्रामांचल को झकझोर कर जगाता है और उसे अपूर्व जागृति की उभरती दिशाओं के प्रति जो अभी गहन विरोधाभासों में डूबा है, चेतित-संवेदित करती है। गांव और नगर को छोड़कर युगपरिवर्तन की स्थितियों का यथावत् पकड़ के लिए रेणु ने आंचलिक इकाई का चुनाव किया है और इससे बिखरी मानसिकता बिखरे सामाजिक जीवन के अनुरूप वैविध्यपूर्ण पृष्ठभूमि सहज रूप में उपलब्ध हो गयी है। यह आंचलिक शिल्प 'परती परिकथा' (१९५७) में पूर्णता के शिखर पर पहुंचता है। स्वाधीन भारत की आकांक्षाओं के जीवन्त दस्तावेज के रूप में प्रस्तुत इस कृति में अंचल के समृद्ध गांव परानपुर को पृष्ठभूमि बनाया गया है। यहां विकास के लिए उपेक्षित ऊसर, वीरान और बन्ध्या धरती की धूल में उन्नत वैज्ञानिक कृषि की संभावनायें छिपी पड़ी हैं। इन संभावनाओं को धरती पर जिन हाथों से कथाकार उतारता है वे हाथ एक जमींदार के हैं। वह साहस के साथ जड़ परम्पराओं से लड़ता है। भू-स्वामी का भू-सेवक के रूप में रूपान्तर दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार 'परती परिकथा' का मुख्य केन्द्र कृषि क्रांति है। गांव की अन्धविश्वासों की परती टूटती है। अगणित अंधविश्वासों, अंधपरम्पाओं और जड़ सांस्कृतिक का व्यामोह ग्रस्ताओं की इस बाहरी परती के साथ ग्राम-मन की परती भी टूटती है। धर्ममूलक सांस्कृतिक कृषि का अन्त और वैज्ञानिक कृषि का अवतरण परम्परावादी गांव में आधुनिकता का प्रवेश है। इस प्रवेश में अभूतपूर्व हलचल और टकराहटें हैं। बहुत गहमागहमी से रेणु ने सबको चित्रांकित किया है। आंचलिकता के सूत्रों से कृषि क्रांति की पकड़ आलोच्य कृति का महत्तम उपलब्धि है। इसमें सबसे सशक्त सूत्र लोकगीत का है। रघ्घू रामायनी जिस सुन्नदि नैका के कथागीत को सुनाता है वह समसामयिक योजना विकास का प्रतीक है। कथागान में सुन्दरी अकाल पड़ने पर अपने 'गुन' से पाताल से पानी निकालने का संकल्प करती है। इसके लिए वह 'दन्ना राकस'

से मदद लेती है। विकास योजना और आधुनिक वैज्ञानिक संयंत्रों के ये प्रतीक बहुत सटीक बैठते हैं। कोसी प्रोजेक्ट को ध्वनिचित्र संकुल वर्णन के भीतर से नये ग्रामीण भारत की चुनौतियों और टेकनालॉजी की संभावनाओं का मानवीय संदर्भ में जैसा आशावादी उभार रेणु की इस कृति में हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थितियों के सम्पूर्ण संघर्ष और टकराव की स्थितियों के बीच से एक सांस्कृतिक क्रांति के दर्शन को रेणु ने प्रतिष्ठा दी है। रेणु के तीसरे उपन्यास 'दीर्घ तपा' (१९६३) और चौथे 'जलूस' में आंचलिकता के सूत्र खिसक कर नगर और कालोनियों से जुड़े प्रतीत होते हैं किन्तु मरणोत्तर प्रकाशित अपने उपन्यास **'पल्ट बाबू रोड'** (१९७९ में पुनः कथाकार अपने पूर्णिया अंचल से जुड़ता प्रतीत होता है। इतना अवश्य है कि परिवर्तित स्थितियों के अनुरूप उसने आंचलिकता की नयी ज़मीन का अन्वेषण किया है।

फणीश्वर नाथ रेणु के अतिरिक्त जिन कथाकारों ने आंचलिक उपन्यासों का सृजन कर हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है उनमें शैलेश मटियानी, उदयशंकर भट्ट, नागार्जुन, राजेन्द्र अवस्थी, शानी, वृन्दावन लाल वर्मा, जयसिंह, रांगेय राघव, देवेन्द्र सत्यार्थी, श्याम परमार, बलभद्र ठाकुर, गोविन्द बल्लभ पंत, रामदरश मिश्र, विवेकी राय, बाल शौरि रेड्डी, बलवन्त सिंह, हिमांशु जोशी, भैरव प्रसाद गुप्त, मायानन्द मिश्र, जगदीश चन्द्र, मधुकर गंगाधर, राही मासूम रजा, केशव प्रसाद मिश्र, अमृतलाल नागर, गिरधर गोपाल, अभिमन्यु अनन्त शबनम, शिवसागर मिश्र, प्रकाशवती, शिवप्रसाद मिश्र रुद्र, रामकुमार भ्रमर, जवाहर सिंह, नरेन्द्रदेव वर्मा, भगवती प्रसाद शुक्ल एवम् सत्यप्रसाद पाण्डेय आदि का नाम लिया जाता है। इन नामों और इनकी कृतियों को देखने पर एक तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रति आंचलिक उपन्यासों के सृजन की लहर पहले जैसी वेगवान न रह कर थम सी गयी है और कथा-साहित्य की हवा में आधुनिकता का ज़ोर-दबाव अधिक है।

सन् १९ १-६२ में प्रकाशित शैलेश मटियानी के पांच उपन्यास 'चिट्ठी रसैन', 'चौथी मुट्ठी', 'हौलदार', 'मुख सरोवर के हंस' और 'एक मूठ सरसों' उन्हें पार्वतीय आंचलिकता के श्रेष्ठ कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। कूर्मांचल का निसर्ग शोभा ओर वहां के पहाड़ी ग्राम निवासियों के जीवन-संघर्ष, उनकी मानस-छवि और उनके सुख-दुख के आदिम भावचित्रों को कथाकार ने बहुत हार्दिकता के साथ उकेरा है। 'चिट्ठीरसैन' मटियानी की सर्वश्रेष्ठ आंचलिक कृति है। इसमें पनार नदी के किनारे एक गांव है ऊडलगों जहां जानसिंह की विवाहिता रनौति स्थितियोंवश पीताम्बर चिट्ठीरसैन से कलंकित होकर जल-समाधि लेने का प्रयास करती है और नत्थूसिंह हौलदार के द्वारा बचा लिए जाने पर भी उसे आजीवन नारी की अभिशप्त नियति की पीड़ा में रिसते रहना पड़ता है। 'चौथी मुट्ठी' और 'हौलदार' में अल्मोड़ा की आंचलिक पृष्ठभूमि है। इनमें वहां का हीन और रागवद्ध जीवन सामाजिक-आर्थिक पहलुओं के गहन स्पर्श से रहित आंचलिक शिल्प में साग्रह प्रस्तुत किया गया है। 'हौलदार' में हीनत्व ग्रन्थि से युक्त डूंगरसिंह एक और नरुली के असफल प्रेम का अकेलापन झेलता है, दूसरी ओर खिमुली-भिमुकी भौजियों के आतंक में सिकुड़ा एक विशिष्ट आंचलिक

चरित्र का प्रतिनिधित्व करता है। 'मुख सरोवर के हंस' में कुमायूं की प्रसिद्ध लोककथा 'अजित बकौल' को आधार बनाया गया है। चम्पावन के बकौल वंशी शूरों की लोकगाथायें वास्तव में वीरगाथाओं की एक परम्परा को उजागर करती है। आलोच्य कृति में इस वंश की अंतिम रूपगर्विता रानी रूपाली की कहानी अंचल की सारी सांस्कृतिक धरोहर के साथ उपन्यास में चित्राँकित हुई है। लोककथाओं का यही रंग कथाकार की अंतिम आंचलिक कृति 'एक मूठ सरसों' में है। इस प्रकार शैलेश मटियानी आधुनिकता और समसामयिक जीवन-संघर्ष की नयी गूंज से रहित सनातन रागबोध में डूबे पार्वतीय ग्रामजीवन की गाथा को प्रस्तुत करते हैं। उनमें प्रश्न हैं, समस्यायें हैं परन्तु आंचलिक जीवन-छवि में सब डूब जाते हैं। लोककथात्मकता, पौराणिक छौंक, रामलीला, पोस्टमैन, पर्वत छवि, भाभी, भूतप्रेत और विशिष्ट परम्पराओं में जीते उपेक्षितों की अन्तररसता कथाकार के आंचलिक उपन्यासों की विशेषतायें हैं।

कालक्रम से 'बलचनमा' (१९५२ ई०) नये दौर का पहला आंचलिक उपन्यास है। इसकी पृष्ठभूमि में विहार का दरभंगा जिला है। कथाकार ने आंचलिक पृष्ठभूमि पर सामाजिक यथार्थ को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। विद्यापति की गीत-गूंज के बीच अपनी आंचलिक बुनावट में उभरती इस कृति में समाज की अंधेरी तहों की टोह ली गयी है। क्षेत्र के मेले, त्यौहार, लोकगीत, कथायें, किम्वदन्तियां और विशिष्ट मुहावरे पूरी गहमागहमी के साथ स्थानीय रंग का सृजन करते हैं। 'कमीना' परिवार का निरीह बालक बलचनमा आरंभ में गांव के एक भू-स्वामी के यहां चरवाही करता है और अन्त में वह मालिक-मजदूर संघर्ष में आहत होता है। आंचलिक होते हुए भी इसके शिल्प पर प्रेमचन्द का प्रभाव है। जनवादी साद्देश्यता का पुट होने के कारण नागार्जुन के 'बाबा बटेसर नाथ (१९५४) और 'नया पौध' (१९६७) में आंचलिकता नहीं है। इसी प्रकार 'बरुण के बेटे' (१९६६) और 'इमिरितिया' में भी अल्प आंचलिकता है। इस दृष्टि से उनकी कृति 'रतिनाथ की चाची' ध्यानाकर्षक है।

सन् १९५६ में प्रकाशित 'सागर लहरें और मनुष्य' (उदय शंकर भट्ट) और 'ब्रह्मपुत्र' (देवेन्द्र सत्यार्थी) में चटक आंचलिक रंग हैं। 'सागर लहरें और मनुष्य' में वम्बई के समीपवर्ती बरसोवा ग्राम के मछुवारों का जीवन-संघर्ष चित्रित है। समुद्री तूफान, समुद्री-देव की पूजा और भोज आदि के उत्सव की स्थानीय विशेषताओं के साथ बिखराव और वैयक्तिकता नामक दो आंचलिक तत्व और इसमें मिलते हैं। इसमें 'कोली' जाति की भाषा का स्थानीय रंग भी स्थान-स्थान पर छिटका है। ग्राम-नगर का द्वन्द्व भी कृति में गंभीर रूप में उभारा है। समुद्र तटीय जीवन-संघर्ष के साथ उसकी होली आदि त्यौहारी छवियों को प्रस्तुत कर कथाकार आकर्षण बढ़ा देता है। 'ब्रह्मपुत्र' में नदी-तट का जीवन चित्रित है। कथाकार ने 'लोकभाषा की राजकुमारी की भांति ब्रह्मपुत्र की सहज भाषा को सहेजा है। पौराणिक अनुश्रुतियों के आधार पर ब्रह्मपुत्र की उत्पत्ति के साथ उसके रूप, विस्तार, महत्ता और भूगोल-इतिहास

आदि के आलेखन के साथ कथा-भूमि दिसांगमुख गांव का स्पर्श होता है। उसके प्राकृतिक परिवेश का अतिमोहक चित्रण तथा महाकाव्यात्मक और आंचलिक रंगों का शतप्रतिशत निखार इस कृति की विशेषता है। आंचलिक मुहावरे, कहावतें और दृष्टान्त जिन पर ब्रह्मपुत्र नदी का प्रभाव है कृति में चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं। वहां के बाज़ार, हाथियों के दास्तान, विविध 'बिहू' के त्यौहार, मछुवारों के जीवन आदि में अद्‌भुत ताज़गी है। अन्तरवर्ती देवकान्त क्रांतिकारी की मुख्य कहानी के चारों ओर सहजभाव में बुनी आंचलिक रंग की कहानियां आदि से अन्त तक पाठकों को रसमग्न रखती हैं। इसके शिल्प पर कलात्मकता का प्रभाव यद्यपि अधिक है तथापि इससे आंचलिकता आहत नहीं होती है। **'दूधगाँछ', 'रथ के पहिये', 'धीरे बहो गंगा'** और **बेला फूले आधी रात'** आदि देवेन्द्र सत्यार्थी की कृतियों में भी आंचलिकता है। उन्होंने आदिवासी सथालों और गोंड़ जाति के जंगली लोगों को अपने उपन्यासों में चित्रांकित किया है।

आदिवासी जंगली जनजातियों को अपने आंचलिक उपन्यासों में चित्रित करने वालों में देवेन्द्र सत्यार्थी के अतिरिक्त शानी, राजेन्द्र अवस्थी, जयसिंह और रांगेय राघव प्रमुख हैं। राजेन्द्र अवस्थी के उपन्यास 'सूरज किरन की छांव' (१९५९) में कालपी-चित्रकूट के पार्श्ववर्ती आदिवासी क्षेत्र, 'जंगल के फूल' (१९६०) में मध्यप्रदेश के बस्तर आदिवासी क्षेत्र और 'जाने कितनी आंखें' (१९७९) में बुन्देलखण्ड क्षेत्र को उठाया गया है। 'जाने कितनी आंखें' में बुन्देलखण्ड अंचल का जन-जीवन मुखर हुआ है। इसके साथ ही नये-पुराने मूल्यों का संघर्ष भी रचनात्मक ढंग से उभारा है। सुवेगा और कमलापति के प्रेम की इस दास्तान में आंचलिकता के तत्त्व अलग से आरोपित जैसे नहीं, उसमें घुलेमिले एकाकार योजित हैं। घोंटा के जंगल में फागू हरकारा शेर से भिड़ जाता है। गोंड जाति को शेर के बड़े भाई के रूप जाना जाता है। खम्हेर खेड़ा और देवी यात्रा का मेला, बारंगदा का मेला, स्थानीय 'टेसू' उत्सव और सहीर तथा कुरमियों द्वारा 'कारसन्देव' की पूजा आदि में प्रभूत आंचलिक तत्त्व हैं। उपन्यास की कहानी द्वितीय महायुद्धकाल की है। प्राचीन जड़मूल्यों, जातिवाद, नैतिकता और सामाजिक नियंत्रण आदि के संदर्भ में सुवेगा की पीड़ा पाठकों की पीड़ा बन आंचलिक कृति को मूल्यवान बना देती है। कथाकार के प्रथम उपन्यास 'सूरज किरन की छांव' में कालपी-चित्रकूट के पार्श्ववर्ती आदिवासी क्षेत्र को उठाया गया है। दूसरे उपन्यास 'जंगल के फूल' में कथाकार अपने प्रिय बस्तर के आदिवासी क्षेत्र (मध्यप्रदेश) को अपनी संवेदना प्रदान करता है। इस उपन्यास में जंगली कुंवारे प्रेमी-प्रेमिकाओं का एकान्त परिषद 'घोटुल' के सांस्कृतिक पक्ष का प्रथम बार विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। कथाकार शानी ने भी बस्तर के आदिवासी क्षेत्र को ही अपने उपन्यासों की पृष्ठभूमि बनाया है। उनके 'कस्तूरी' (१९६०) आदि कृतियों में जन-जातियों की पीड़ा आंचलिक रंगों में बहुत कचोट के साथ उभरी है। रांगेय राघव की आंचलिक कृति कब तक पुकारू' (१९६७) में राजस्थान के जरायमपेशा वाली करनट जाति के बजारों का चित्रण है। प्रगतिशील और विद्रोही कथाकार इस आंचलिक कृति के माध्यम से मानवीयता के अनुत्तरित

प्रश्न को पाठकों के मन में जगा देता है। इसी प्रकार जयसिंह की कृति 'कलावे' में आदिवासी भील-कलावे हैं। राजनीतिक प्रकार और सांस्कृतिक व्यामोह से रहित इस लघु उपन्यास में विशुद्ध आंचलिक रंगों का उभार अत्यन्त सावधानी से हुआ है।

'मुक्तावती' (१९५८), 'नेपाल की वो बेटी' (१९५९), 'देवताओं के देश में' (१९६०), 'घने और बने' (१९६१) तथा 'लहरों की छाती पर' (१९६२)—अपने इन पांच उपन्यासों में बलभद्र ठाकुर ने क्रमशः मणिपुर, नेपाल, कुल्लू और अन्दमान-निकोबार अंचल को पृष्ठभूमि बनाकर आंचलिकता के ध्यानाकर्ष के आयाम का उद्घाटन किया है। बलभद्र ठाकुर का दृष्टिकोण प्रगतिशील है और उपन्यासों की सांस्कृतिक सृष्टि में साम्यवादी दृष्टि का सयोग पाठकों के बोध को बराबर छूता चलता है। प्रादेशिक रूपाभा और भौगोलिक विचित्रताओं के साथ विशिष्ट लोक परम्पराओं का निर्वाह कलात्मक स्तर पर होता चलता है। इसी प्रकार प्रामाणिकता को सघन बनाने के लिए एक सम्पूर्ण भौगोलिक ग्राम इकाई को राही मासूम रज़ा ने अपने आंचलिक उपन्यास 'आधा गांव' (१९६६) में उठाया है। इसमें कृतिकार ने गाज़ीपुर जिले के अपने ही गांव गंगौली के जीवन का रचनात्मक आलेख प्रस्तुत किया है। आंचलिकता ज़मींदार युग के उल्लसित रोमांस, मजलिस, मरसिया, माजिया और सेहरा के सदर्भों में उजागर होती है। इसके साथ ही भोजपुरी उर्दू का एक नया प्रयोग भी कथाकार ने किया है। कृति में कुछ आंचलिक गालियों का भी प्रयोग हुआ है जिसे कुछ समीक्षकों ने इस कृति के प्रमुख ध्यानाकर्षक तत्त्व के रूप में व्याख्यायित किया है। इन गालियों के प्रयोक्ता वे ज़मींदार हैं जिनकी पैरों तले वाली धरती ज़मींदारी टूट जाने से खिसक गयी है। कथाकार के टोपी शुक्ला (१९६८) आदि उपन्यासों में स्थान-स्थान पर अल्प आंचलिक तत्त्व झलक मारते हैं।

कथाकार रामदरश मिश्र का पहला उपन्यास 'पानी के प्राचीर' (१९६१) मूलतः आंचलिक उपन्यास है। इसमें कथाकार ने गोरखपुर जनपद की राप्ती नदी के अंचल को पृष्ठभूमि बनाया है और कृषक जीवन के साथ कृषि-संस्कृति को बहुत नीचे से उठाया है। सम्पूर्ण उपन्यास में ठेठ ग्रामांचल है, खेत-खलिहान, किसान और दंवरी-डाँठ का वातावरण है। नीरू का बाप ही नहीं सारा गांव दरिद्र है। जाड़े में गांव 'बथुआ' के साग पर जीता है। फसलें चुका कर उखाड़ी जाती हैं। वस्त्रहीन गरीबों की ठण्डी रातें कटकटाते कूं-कूं करते बीतती हैं। बाढ़, प्लेग और अकाल की छाया में जनसाधारण का जीवन सिकुड़ा-सिकुड़ा चलता है, चुक जाता है। बेकारी के मारे पढ़े-लिखों की हालत खस्ता है। ऐसी विपन्नता में होली जैसा त्यौहार हर साल आकर एक-दो दिन के लिए खुशियाली बिखेर देता है। मगर वह खुशी कैसी होती है? कितनी सतही होती है? गहराई से जीवन के लिए तड़पते कथानायक नीरू को वह नहीं छू पाती है। छू भी कैसे सकती है? बाढ़ की चपेट से बचे-खुचे गांव को मुखिया आपस में लड़ा कर तोड़ता है। वह 'सरकारी आदमी' है। ज़मींदारी का आतंक सबके सिर पर है। बिंदिया चमारन 'सारे बामन के लड़कों को चमार बना रही है।' नीरू आटा-सत्तू बांध कर शहर-शहर नौकरी खोज रहा है। ज़मींदार के यहां दो रुपया माहवार

पर कारिन्दगिरी से लेकर सड़क की मेटगिरी अथवा मिल की नौकरी में खपता वह बयालीस के जनान्दोलन में जेल जाता है। जेल से लौटने पर देखता है बाढ़ की जमदाढ़ में गांव बिलबिला रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति पर उसका भाषण होता है—'गांव के चारों ओर पानी की ये दीवारें जो आप देख रहे हैं, इसे गुलामी ने और बलवान बना दिया है। ये हमारी फसलें लूट लेती हैं। आज हमें आजादी मिली है। अब ये दीवारें टूटेंगी।' और इस कड़ी के दूसरे उपन्यास 'जल टूटता हुआ' में सचमुच दीवारों के टूटने का बहुत ज़ोरदार चित्रण होता है। मगर इस उपन्यास में आधुनिकता की पकड़, अधिक होती है। प्रथम कृति में गांधीवादी प्रभाव के अंतर्गत अपने अंचल को बहुत भावात्मक स्तर पर कथाकार आत्मसात करता है परन्तु दूसरी में अंचल से अधिक अंचल का यथार्थ अधिक प्रभावक होता है। कथाकार की अगली औपन्यासिक कृतियों में छूटा आंचलिक छोर फिर कठिनाई से कहीं कहीं झलक भर दिखा जाता है। कथाकार की महत्त्वपूर्ण कृति **'अपने लोग'** (१९७६) में यद्यपि आंचलिकता नहीं है तथापि कुछ पात्रों के माध्यम से भोजपुरी हिन्दी का आंचलिक प्रयोग छौंक के रूप में नहीं, पूरे विस्तार के साथ कराया गया है और इससे कृति का कलात्मक मूल्य बढ़ गया है।

शैलेश मटियानी की पर्वतांचलिक परम्परा में कलम के धनी हिमांशु जोशी के कई आंचलिक उपन्यास प्रकाशित हुए। इनमें कुमाऊं की आंचलिक पृष्ठभूमि पर लिखी कथाकार की पहली कृति 'बुरुंश फूलते तो हैं' (१९६५) और 'अरण्य' (१९७३) सुधी समीक्षकों के बीच काफी चर्चित हुए। पहाड़ी जीवन के रागमय सांस्कृतिक पक्ष के साथ वहां के निवासियों की वैयक्तिक विवशताओं का चित्रण कर आंचलिकता के नये सहज स्वाद का सृजन हिमांशु जोशी ने किया है। कूर्मांचल की आंचलिक छवि कथालेखिका शिवानी के उपन्यासों में भी उभरी है परन्तु उनकी कृतियों में आंचलिकता के तत्त्व इसी प्रकार नहीं हैं जिस प्रकार शिव प्रसाद सिंह, श्री लाल शुक्ल और अमर कान्त में अंचल विशेष का उभार होने पर भी उपन्यास साहित्य की आंचलिकता नहीं है। मधुकर गंगाधर के लघु उपन्यास 'सुबह होने तक' (१९६९) में अवश्य ही आंचलिक तत्त्व निहित हैं। कहानी की बुनावट में आदि से अन्त तक लोकगीत की अनुगूंज उलझी है। वास्तव में यह देशकाल निरपेक्ष रचना बिहार की नदी कोसी की सत्यानाशी बाढ़ के चित्रों को प्रस्तुत करती बहुत मार्मिकता के साथ प्राचीन सनातन मूल्यों को पुरस्कृत करके अन्त होती है। आंचलिकता के साथ मूल्यों का आग्रह वैकल्पिक होता है। वास्तव में इसकी उठान में मूलतः विद्रोह है परन्तु आंचलिक रंगों के प्रस्तुतीकरण के साथ कभी-कभी यह तत्त्व हाथ से निकल जाता है। 'माटी के लोग सोने की नैया' (१९६६) शीर्षक मायानन्द मिश्र के उपन्यास में भी यही स्थिति है। यह बिहार के कोसी तटबन्ध से सम्बन्धित आंचलिक उपन्यास है। 'तीसरा पत्थर' (१९६९) रामकुमार भ्रमर का आंचलिक उपन्यास चम्बल अंचल की दस्यु-समस्या से सम्बन्धित हैं। किन्तु डाकुओं के हृदय-परिवर्तन जैसी सोद्देश्यता इसकी आंचलिकता को आहत करती है। आनन्द प्रकाश जैन का आंचलिक उपन्यास 'आठवीं भांवर' (१९६९) पश्चिमी उत्तर प्रदेश के अंचल विशेष की नैतिक मान्यताओं और परम्पराओं के उध्वस्त होने की कहानी प्रस्तुत करता है। आंचलिक उपन्यास के लब्धप्रतिष्ठ कृतिकारों में शिवसागर मिश्र का नाम आदर के साथ

लिया जाता है। 'दूब जनम आई' (१९६०) आदि उनकी कृतियों में धरती की सोंधी सुगन्ध से संयुक्त अत्यन्त मार्मिक और अनुरंजनकारी आंचलक तत्त्व हैं। जयप्रकाश भारती की कृति 'कोहरे में खोये चांदनी के पहाड़' (१९५९) में जौनसार बावर अंचल का चित्रण है। बिलास बिहारी की कृति 'अकाल पुरुष' (१९७१) में भागलपुर अंचल, शिवशंकर शुक्ल के उपन्यास 'मोंगरा' (१९७०) में छत्तीसगढ़ अचल, जगदीश पाण्डेय के गगास के तट पर' (१९५८) में कुमाऊं अंचल, प्रकाशवती की कृति 'अनामा' (१९७१) में बिहार का एक ग्रामांचल, सत्यप्रसाद पाण्डेय की कृति 'चन्द्र बदनी' (१९७१) में एक पिछड़ा पर्वतांचल, भगवती प्रसाद शुक्ल की कृति 'खारे जल का गांव' (१९७३) में विन्ध्य क्षेत्र, और नरेन्द्रदेव वर्मा की कृति 'सुबह की तलाश' (१९७२) में छत्तीसगढ़ अंचल, चित्रांकित है। इन आंचलिक उपन्यास लेखकों ने हिन्दी के शब्द कोश में भी मूल्यवान वृद्धि की है और आंचलिक इकाइयों के सूत्र से सार्वदेशिक समस्या के अनुशीलन का नया मार्ग प्रशस्त किया है। आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया आंचलिक उपन्यासों में बहुत गहरी होती है और इस प्रकार आधुनिकता के इस तूफानी दौर में भी उक्त प्रकार की कृतियों की उपयोगिता पर आंच नहीं आयी है। इतना अवश्य है कि एक ओर पिछले पांच-सात वर्षों से आंचलिक उपन्यासों का सृजन-चक्र कुछ अवरुद्ध दृष्टिगोचर होता है दूसरी ओर पाठकों में आंचलिक उपन्यासों के पठन-पाठन के प्रति चाव बढ़ा है, इस प्रवृत्ति की लोकप्रियता बढ़ी है। लेखकों में इसके प्रति कई कारणों से अनुत्साह दृष्टिगोचर होता है। आधुनिकता से प्रभावित नागर ग्राम-कथाकार शायद आंचलिक होने में ही हीनत्व का अनुभव कर रहे हैं। अपने 'बबूल', 'पुरुष पुराण', 'लोक ऋण' और 'श्वेत पत्र' में पूर्वी उत्तर प्रदेश के पिछड़े गाज़ीपुर के ग्रामांचल के आंचलिक चित्रों की झांकी प्रस्तुत करने के बाद अपने विशुद्ध आंचलिक उपन्यास 'सोना माटी' में विवेकी राय गाज़ीपुर-बलिया के मध्यवर्ती करदूल-अचल को और वहां के जन-जीवन की विस्तृत पैमाने पर प्रस्तुत कर रहे हैं।

'एक बीघा प्यार' (१९७२) अभिमन्यु अनन्त के उपन्यास से आंचलिकता के एक नये क्षितिज का उद्घाटन होता है। कथाकार ने भारत से दूर सागर की लहरों पर खेलने लघु भारत मारीशस की ज़मीन और वहां के जन-जीवन को हिन्दी में वाणी दी है। आलोच्य कृति में आंचलिक उपन्यास के समस्त तत्त्व विद्यमान हैं और अपनी सम्पूर्ण छाप लिए विदेशी ग्रामांचल का साक्षात्कार अद्भुत तृप्तिकारक होता है। अभिमन्यु अनन्त के अन्य उपन्यासों में भी आंचलिकता के विभिन्न आयाम उक्त सुपरिचित भूमि से सम्पृक्त होकर उद्घाटित होते चलते हैं। नये दौर में एक ओर आंचलिकता, **नगरांचलिकता** के नाम से चर्चित होने लगी है जो मधुकर गंगाधर की कृति 'मोतियों वाले हाथ' (१९६३) और अमृत लाल नागर की कृति 'बूंद और समुद्र' (१९५६) में देखी जा सकती है। उपेन्द्रनाथ अश्क की पुस्तक 'पत्थर-अल पत्थर' (१९५७) में कश्मीर के एक गांव का आंचलिक चित्रण हुआ है। वास्तव में आंचलिक उपन्यासों की सृजन प्रक्रिया में सामान्य उपन्यासों से जो भिन्नत्व है वह लेखक के विशेष अध्ययन, उसके विशिष्ट शिल्प और ग्राम या वन्य जीवन के प्रति रागात्मक तादात्म्य की मांग करता है। सामान्य परिनिष्ठित भाषा से पृथक ग्रामांचल की तलवर्ती और मौलिक भंगिमा

की पकड़ और अन्तरंग में प्रवेश की शर्त और बीहड़ है। युगीन जीवन के तनावों में टूटा और नाना प्रकार के संत्रास-चक्र से आहत आज का नागर-मन ग्राम-कथाकार शायद आंचलिकता की मानसिकता से छिटक-छिटक जाता है। सांस्कृतिक मूल्यों के ध्वस्त होते जाने की स्थितियां भी लेखकीय मन को घिस कर रूढ़ बना रही हैं तथा इस रूढ़ जीवन की भगतिकता आंचलिक संवेदनाओं को आत्मसात् करने में बाधक बन रही हैं और बिना उन्हें गहराई से आत्मसात् किए आंचलिक उपन्यासों का सृजन संभव नहीं। इतने पर भी इसके भविष्य के प्रति आशावान बने रह सकते हैं।

———

कश्मीरी कविता

मेरे कान में कहा गया

—चमन लाल चमन

जन्म लेते ही
मेरे कान में कहा गया
"अपनी परिपाटी पालो
और यह सिलसिला
आज तक चला आ रहा है।

आज—
जब इस वायुमण्डल से बाहर निकलकर
मैं
चन्द्रलोक की मिट्टी को रौंद चुका हूँ
और सूर्यलोक की सीढ़ी पर खड़ा हूँ
आज भी वे शब्द
मुझे अपनी कुंडली में कसे हुए हैं—
खुदे हुए हैं मेरे भीतर !

●

तभी से मैं दे दिया गया हूँ इस रेवड़ को
मेरी डगर
उस गडरिए पर निर्भर है
जिसने मुझे पहले-पहल दागा था
ताकि मैं औरों से भिन्न दिखूं
और खड़ा कर दिया
एक बीहड़ गुफा के आगे

●

कितने युग बीते
कितनी बार सुलगी धूनी इस जगत की
पर मैं यथावत् अपनी नस्ल के
रेवड़ के साथ हूं—
और अधिक सहमा, और अधिक सिमटा
मेरे कानों में कही गयी बात
"अपनी परिपाटी पालो"
मेरे गले में पत्थर-सी अटक गयी है
और उसी तरह से हांके जा रही मुझे-
आज भी।

——

अनुवाद : शशिशेखर तोषखानी

दो कविताएं

—मालती शर्मा

प्रत्यावर्तन

झुटपुटे में डूबे
बियाबान की सुनसान हवाओं में
पीछे छूटा एक स्टेशन
मेरी गाड़ी के पीछे पीछे दौड़ रहा है
कोई मेरा बचपन का नाम लेकर
पूछ रहा है
तुम वही हो ना ?—
जो उधर सामने की छत पर खड़ी
विस्मय भरी आंखों से
गाड़ियों का गुजरना
सिगनल का उठना गिरना
देखा करती थीं
ताली बजाकर, शोर मचाती थीं
"सिगल डाउन हो गया
गाड़ी आने वाली है"
और झट से मुंडेर पर चढ़ जाती थीं
मगर अब मुझे
मुझ पर आती गाड़ियों का ध्यान कहां ?
अब तुम स्वयं ही एक गाड़ी हो गई हो
आती हो,
गुजर जाती हो।

——

आँधी में

धूल के कण
किसी आँधी-बवंडर में
बंदूक के छर्रे बन जाते हैं
मगर, आँधी उतरने पर
तमाम ऊंचाइयों पर बैठे हुये भी
वे धूल के कण ही तो होते हैं !

——

२५/२ 'पाखर' पूना—३

कहानी

टूटते बन्धन

—से० रा० यात्री

गहरी उमस से परेशान होकर उसने किसी ठंडी जगह पर थोड़ा सा विश्राम लेने की सोची। वह काफी हाऊस में चली गई। काफी हाऊस में दो टेबिल वाला कोई एन्कलोजर खाली नहीं था। हाल के अन्त में जाकर एक मेज खाली थी। मेज कुर्सियों से बचते-बचाते वह उधर ही निकल गई। सिगरेटों के धुएं और बातचीत के शोर से पूरे हाल में एक हंगामा सा बरपा था। उसने दायें हाथ में थमे बंडल को मेज पर रख दिया और बायें हाथ में झूलते पर्स को पास वाली खाली कुर्सी पर टिका दिया। उसने गहरी थकान महसूस की। हालांकि आज कालिज में भी वैसा कोई काम उसके जिम्मे नहीं था—यहां तक भी पैदल चलकर नहीं पहुंची थी—कालिज से निकलते ही स्कूटर मिल गया था पर शायद यह निष्क्रियता की दी हुई थकान थी। जितना सम्भव था वह कुर्सी पर फैल कर बैठ गई और बेयरे का इन्तज़ार करने लगी।

बेयरा आया और पानी का गिलास मेज पर रखकर तेजी से आगे बढ़ गया। उसने आहिस्ता से कलाई टेढ़ी करके वक्त देखा और आती हुई जमुहाई को मुंह पर हथेली रखकर दबाने की कोशिश करने लगी।

देर तक न जाने वह क्या सोचती रही। इसी क्षण एक युवक वहां आकर असमंजस में खड़ा हो गया। कोई भी मेज खाली नहीं थी—वह किसी मेज़ के खाली होने के इन्तज़ार में खम्भे की ओट में खड़ा था। युवक के चेहरे पर झिझक का भाव उसे अच्छा लगा। आज दोस्त भाव युवकों के चेहरे पर कहां मिलता है—ज़िसे देखो उद्धत दिखलाई देता है। उसने युवक का इन्तज़ार किया कि वह उसकी तरफ देखे तो वह उससे अपने सामने खाली पड़ी कुर्सी पर बैठने को कहे। लेकिन पता नहीं वह किस मिट्टी का बना था कि देख ही नहीं रहा था। जब बेयरा उससे आर्डर लेने आया तो उसने बेयरा से कहा—"ये जो हज़रत उधर खड़े हैं इनको जरा इधर बुलाना और दो काफी और मक्खन पकौड़े की एक प्लेट ले आना।"

बेयरा ने युवक से कहा—"हजूर आप उधर तसरीफ ले जाइये—आपको देवी जी बुला रही हैं।" यह देवी जी सम्बोधन उसे बुरी तरह खला लेकिन बेयरे से और क्या उम्मीद की जा सकती थी। अपनी व्यस्तता में वह भाषा के महीनपन को कैसे बरकरार रख सकता था—इसके अलावा वह और सम्बोधन भी क्या देता ?

बेयरा की बात सुनकर युवक संकोच में डूबा उसके पास आकर खड़ा हो गया। उसने कहा—"कोई टेबिल खाली नहीं है—आज कुछ ज्यादा ही भीड़ है।"

वह सान्त्वना देते हुए बोली—"कोई बात नहीं है, आप यहां भी बैठ सकते हैं।"

"सो काइन्ड आफ यू" कहकर युवक कुर्सी पर बैठने लगा मगर उस पर पर्स रखा देखकर वह खड़ा ही रह गया। "ओह !" कहकर उसने पर्स हटाकर अपनी गोद में रख लिया और खाली कुर्सी की ओर संकेत करके युवक से बैठने को कहा। इसके बाद वह बोली—"मेरा नाम प्रभा है।"

"थैंक्यू वेरी मच ! मुझे नवतेज कहते हैं।" और नवतेज की हिचक थोड़ी कम हो गई।

"मैं वीमेन्स कालिज में हिस्ट्री की लेक्चरर हूं और कभी-कभी इधर आ जाती हूं।"

"ओह आई सी" कहते हुए नवतेज के चेहरे पर विनम्रता उभर आई। "मैंने तो अभी हाल में पेंटिंग में मास्टर्स डिग्री ली है। बिल्कुल खाली हूं। आप जानती हैं इन दिनों नौकरी तो··· ।"

नवतेज ने अपनी बात बीच में अधूरी ही छोड़ दी। "हां वह तो है, अब क्या करें। हमारी एजूकेशन जॉब ओरिएन्टेड तो है नहीं। हर साल लाखों ग्रेजुएट, पोस्ट ग्रेजुएट कालिजों, विश्वविद्यालयों से निकलते हैं और राटन हो जाते हैं।" प्रभा ने अपनी बात कहते-कहते महसूस किया कि वह अपने पेशे के प्रभाव में आकर भाषण-सा देने लगी है।

इसी समय बेयरा काफी के प्याले और पकौड़े की प्लेट रखकर चला गया। नवतेज ने दो प्याले देखे तो वह चकित रह गया। उसके मुंह से अनायास निकला—"अरे प्रभा जी आपने यह क्या किया ? मेरे लिए काफी मंगाने की जहमत क्यों की ?"

"क्यों इसमें क्या तकलीफ हो गई मुझे ? क्या आप काफी हाऊस में महज़ चक्कर लगाने ही आते हैं, काफी नहीं पीते ?" और सहसा वह मुस्करा कर बोली, "बराये मेहरबानी जब भी काफी हाऊस में आयें एक प्याला काफी जरूर लें वर्ना यह काफी हाऊस किसी दिन बन्द हो जायेगा।"

उसकी बात पर नवतेज भी मुस्करा दिया और सफाई देने लगा, "वह बात नहीं है। दरअसल मेरा एक दोस्त भी आज शाम यहां आने को था—मैं उसी का इन्तज़ार कर रहा था।"

"आप अपनी कुर्सी को थोड़ा सा घुमा लें और एक नज़र दरवाज़े पर भी रखें— आपके दोस्त आयेंगे तो उन्हें भी जगह मिल जायेगी।"

इस बार नवतेज खुलकर मुस्कराया और बोला—"प्रभा जी आपने जो यह जगह मिल जाने की बात कही, उससे मुझे बड़ी राहत मिली। एज ए मैटर आफ फैक्ट जहां भी जाते हैं हम लोग, वहीं 'जगह नहीं है—जगह नहीं है' का आलाप सुनाई पड़ता है। अब 'जगह मिल जायेगी' जैसा आश्वासन सुनने के लिए मैं तो कम से कम तड़प ही रहा हूं—पूरे साल से।"

प्रभा नवतेज की मुद्रा देखकर हंस पड़ी और बोली—"आप इतने बेचारे तो नहीं लगते जो आपको कहीं भी प्रवेश न मिले—इतनी सी उम्र में तो यह सब सोचना भी नहीं चाहिए।"

"सोचना तो बिल्कुल नहीं चाहिए लेकिन आपने गालिब की वह शे'र तो सुनी ही होगी—

अच्छा तो ये है कि न इस दुनिया से दिल लगे।
पर क्या करें जो काम ना बे दिल लगी चले।

तो ऐसा है प्रभा जी यह नौकरी अपने आप सोचने को मजबूर कर देती है।"

प्रभा ने काफी के प्याले की ओर इशारा करके बात का रुख मोड़ने की कोशिश की। "ठीक है वक्त आने पर सब हो जायेगा। पहले आप काफी पीजिए और पकौड़े खाइये।"

काफी पीते-पीते ही प्रभा ने नवतेज के घर परिवार के सम्बन्ध में भी जान लिया। उसके पिता एक गैर-सरकारी उद्योग में टेक्नीकल एडवाइज़र के पद पर थे। दो बहनों में एक उससे छोटी और एक बड़ी थी। बड़ी बहन का विवाह हो गया था और छोटी बी० ए० की छात्रा थी। यह सब बतलाते हुए नवतेज के चेहरे से वह हिचक और संकोच भी गायब हो चुका था जो प्रभा ने शुरू में उसके चेहरे पर देखा था।

अपनी बातें बतला चुकने के बाद नवतेज ने सहज भाव से प्रभा के घर-बार के सम्बन्ध में जानने की जिज्ञासा व्यक्त की तो प्रभा चुप हो रह गई। क्या कहे? उसने काफी का प्याला उठाकर मुंह से लगा लिया और कई मिनट बाद बोली—"मैं पटेल नगर में अपनी बुआ के साथ रहती हूं…।"

"आपके और रिलेशंस…मेरा मतलब…।"

"मेरे सम्बन्धी सभी यहां से दूर-दूर हैं—बस मैं और बुआ साथ रहते हैं। आप किस तरफ रहते हैं?"

"रहता तो मैं भी पटेल नगर में हूं, मैं ईस्ट में हूं। आप किधर की तरफ हैं?"

"मैं ईस्ट पटेल नगर के बिल्कुल शुरुआत पर हूं। पापा ने बहुत सालों पहले एक बना-बनाया मकान खरीद लिया था। पहले उस मकान में कितने ही लोग थे लेकिन अब तो सिर्फ मैं और बुआ ही हैं।"

"और सब लोग कहां चले गये?"

प्रभा नवतेज की जिज्ञासा सुनकर सिहर उठी और उसके मुंह से बेसाख्ता एक लम्बी सांस निकल गई। उसने नवतेज का ध्यान उस तरफ से हटाने की कोशिश की। "बस बातें ही करते रहेंगे कुछ खाया भी आपने? सारे पकौड़े ज्यों के त्यों रखे-रखे ठंडे हो गये।"

नवतेज ने अपना विस्मय वाक्य दोहराया—"ओह ! आई सी, लेकिन आपने तो एक पकौड़ा भी नहीं छुआ। मैं इतने सब कैसे खा लूंगा।"

"आपको ही खाने हैं जनाब—आपके ही लिए आये हैं। मैं तो पकौड़े मिठाई वगैरह लम्बे वक्त से छोड़ चुकी। इसमें अब मुझे कोई स्वाद नहीं मिलता— बच्चों के खाने की चीज़ें हैं और उन्हें रेलिश करनी चाहिएं।"

"गोया मैं आपकी नज़र में इतना बच्चा हूं कि जो कुछ बुजुर्ग छोड़ चुके हों उसे मेरी उम्र के लोगों को रेलिश करना चाहिए। लेकिन में आपको बताना चाहता हूं कि मैं न अब उतना बच्चा हूं और आप न उतनी बुजुर्ग हैं कि···।"

प्रभा ज़ोर से हंस पड़ी। "ठीक, यह हुई कोई बात" और यह कहने के साथ उसने एक पकौड़ा उठाकर दांतों से धीरे-धीरे कुतरना शुरू कर दिया।

बिल चुकाने के बाद प्रभा और नवतेज काफी हाऊस से साथ-साथ बाहर निकले। बस स्टैण्ड की तरफ जाते हुए उन्होंने देखा रात हो चली है और कनाट प्लेस की गहमागहमी बढ़ गई है।

बाहर जितना ही ज्यादा उजाला था प्रभा के भीतर उतना ही अधिक पस्ती का अंधेरा था। बसों के लिए लगभग पांच लाइनें लगी थीं। प्रभा के बदन पर उमस की वजह से कपड़े चिपके हुए थे। वह जल्दी से जल्दी घर पहुंचकर नहा-धोकर पसीने में लथपथ कपड़ों से छुटकारा चाहती थी।

प्रभा ने नवतेज के सामने प्रस्ताव रखा, "अब बसों के लिए कहां तक मरा जाये। स्कूटर ले लेते हैं, जब एक ही दिशा में जाना है तो वैसी कोई मुश्किल भी नहीं है।"

"हां-हां यही करते हैं" कहकर नवतेज ने 'स्कूटर-स्कूटर' करके दो-तीन आवाजें दीं और एक स्कूटर ठहर गया। वे दोनों उसमें अगल-बगल बैठ गये। प्रभा ने ड्राईवर को पता बतला दिया। स्कूटर चल दिया तो उन दोनों में फिर बातें शुरू हो गईं लेकिन स्कूटर की भड़-भड़ और सड़क पर दौड़ते वाहनों के शोर में उन्हें एक दूसरे की कोई बात ठीक से सुनाई नहीं पड़ रही थी। इसके लिए कभी नवतेज को प्रभा की तरफ झुककर उसके कान के पास मुंह ले जाना पड़ता था कभी यही कुछ प्रभा को करना पड़ता था। कभी-कभी यह भी होता था कि मोड़ पर कोई जबरदस्त धक्का लगता था तो वह दोनों टकरा जाते थे और कभी एकाएक ब्रेक लगने से दोनों उछल कर एक दूसरे से उलझ से पड़ते थे।

इस छोटी सी दस-पन्द्रह मिनट की सहयात्रा में प्रभा ने अनुभव किया कि उसके भीतर बरसों बरस से जो जड़ता और निरपेक्षता जड़ जमा चुकी थी, जिस आतप ने उसे झुलसा दिया था वह एकाएक न जाने कहां तिरोहित हो गया है। उसे लगा जैसे तपती जमीन पर बादलों ने घूमड़ कर धारा सा वर्षा कर दी है और पृथ्वी तृप्त और अन्नपूर्ण होने की दिशा में पहुंच गई है।

ईस्ट पटेल नगर के बताये हुए पते पर स्कूटर जाकर ठहर गया तो प्रभा का ध्यान टूटा आंय इतनी जल्दी ? अभी तो कुछ क्षण भी नहीं गुज़रे—पलक झपकते ही रास्ता कट गया। कभी-कभी समय किस तरह उड़ जाता है ? प्रभा ने नवतेज से इसरार किया—"अब तो आपको दूर जाना नहीं- यही कहीं थोड़ी दूर जाना होगा। थोड़ी देर यहीं ठहरिये—बुआ से मिलकर चले जाइयेगा।"

नवतेज स्कूटर वाले को किराया चुकाने लगा तो प्रभा ने उसका हाथ पकड़कर कहा—इतनी जल्दी न करो।" प्रभा ने किराया चुका दिया तो वह गेट का कुण्डा खोलते हुए बोली, "मेरी बुआ आपको देखेंगी तो खुश होंगी—उनकी नज़र में मैं तो अब लम्बे समय से आदमी रह नहीं गई हूं- कोई-पत्थर-वत्थर जैसी बेजान चीज़ हूं।"

नवतेज को इन्कार करने का अवसर ही नहीं मिला, वह प्रभा के पीछे-पीछे चल पड़ा। प्रभा ने घंटी बजाई तो अन्दर से एक थकी हुई और कांपती आवाज़ सुनाई पड़ी, "ठयरो आवत हॅय।"

एक मिनट बाद द्वार खुल गया और कांपती-कांखती एक जर्जर वृद्धा ने दरवाज़े पर खड़े होकर उन दोनों को हाथ से माथे की ओट लेकर देखा। न जाने कितने दिनों बाद कोई आदमी इस घर में आया था। हमेशा तो प्रभा अकेली ही इस घर में घुसती थी। बहुत हुआ तो कुछ लड़कियां या प्रभा के साथ की अध्यापिकाएं ही कभी-कभार आ जाती थीं। वृद्धा बुआ ने गौर से प्रभा का चेहरा देखा—उसकी रंगत बदली हुई थी। "आवो आवो बेटा" कहकर बुआ ने नवतेज का स्वागत किया। उनके वृद्ध थके चेहरे पर भी थोड़ी मुलायमियत और उल्लास उभर आया।

अन्दर पहुंचकर नवतेज ने देखा अच्छा-खासा सजा हुआ फलैट था। हर जगह सुरुचि और कलाप्रेम का भरपूर साज़ोसामान था। वह एक क्षण दीवारों को देखता खड़ा रहा पूरे घर में सन्नाटा पसरा हुआ था। प्रभा ने बंडल को पलंग पर फेंका और पर्स खूंटी पर टाँगते हुए बोली, "खड़े क्यों हो ? बैठो न - मैं अभी एक मिनट में आती हूं।" और वह नवतेज को वहीं छोड़कर दूसरे कमरे में चली गई। इसी समय बुआ जी वहां आ गई। नवतेज उन्हें देखकर कुर्सी छोड़कर उठ गया। बुआ जी ने प्यार से कहा, "उठो नहीं बेटा, बैठे रहो। तुम कहां रहते हो ?"

नवतेज ने अपना ठिकाना बता दिया तो बुआ उससे और दीगर बातें मालूम करने लगी। नवतेज के बारे में जानकारी लेकर वह अत्यन्त सन्तुष्ट दिखलाई पड़ी और बोली, "बेटा, ऐसे मत जाना। मैंने खाना बनाया है परभा तो रो-रोकर खाती है—सारा खाना पड़ा रह जाता है। सुबह महरी को देती हूं—पता नहीं इस लड़किनी को क्या विराग हो गया है, न कुछ खाती है न हंसती बोलती है। मैं सारे दिन घर में अकेली रहती हूं। अब तो बेटा यह अकेलापन मुझसे निभता नहीं है। राकेश (प्रभा का बड़ा भाई) को कई बार लिख चुकी हूं बस जिस दिन वह आ जायेगा मैं तो उसके साथ ही चली जाऊंगी।..."

अभी बुआ अपनी बात पूरी भी नहीं कर पाई थीं कि प्रभा आ गई और मुस्कराते हुए बोली—"बुआ जी मैं अपने साथ इसीलिए तो किसी को नहीं लाती—आप उससे मेरी आते ही शिकायतें करने लगती हैं। अरे बुआ शिकायतें छोड़कर इन्हें कुछ खिलाओ—इनकी खातिर करो। ये बड़े अच्छे हैं।"

'ये बड़े अच्छे हैं' सुनकर नवतेज भी हंसे बगैर नहीं रह सका और बुआ ने भी कहा—"हां अच्छा क्यों नहीं होगा। है भी तो किसी असील (शीलवान) घर का बेटा।"

नवतेज ने खाने को बहुत मना किया पर बुआ और प्रभा दोनों ही नहीं मानीं। उस रात उस घर में न जाने कितने दिनों बाद बुआ का रुचि से बनाया गया भोजन कतई नहीं बचा और वे सूनी दीवारें जिनमें तह दर तह मनहूसियत व्याप्त हो गई थी—हंसी ठहाकों से रोमांचित हो उठीं। काफी देर तक नवतेज वहां रहा—उसका समस्त संकोच, हिचक और बेगानापन कुछ घटों में खत्म हो गया। जब वह गया तो प्रभा से भी ज्यादा बुआ ने इसरार किया—"बेटा आते जरूर रहना—इस घर में मैं आदमी का मुंह देखने को तरस जाती हूं।"

नवतेज ने बराबर आते रहने का वायदा किया और विदा लेकर चला गया। उसके चले जाने के बाद प्रभा बहुत देर तक न जाने क्या क्या सोचती रही और जब वह अपने बिस्तर पर लेटी तो उसे लगा कि उसके अन्तस्तल से कोई दूसरी मानवी बाहर निकल कर उसके पास आ बैठी है। उसने बन्द आंखों में उभरती एक युवती की छाया देखी। वह उससे कहीं अधिक तरुणी—कहीं अधिक कोमल स्वस्थ और स्वप्नशील थी। वही युवती निरन्तर न जाने कितने बरसों से उसके साथ है जो ऐसे ही एकान्त क्षणों में चुपचाप उसके पास आकर बैठ जाती है। तब भी उसके अन्तर में यही युवती थी जब उसने सेशन्स जज के बेटे राजीव को ठुकरा दिया था। राजीव और उसके पिता के बंगले को केवल एक तीन फीट ऊची दीवार अलग करती थी। जिस समय वह अशोक वृक्ष के नीचे बैठकर पढ़ती रहती थी तो राजीव दीवार के उस तरफ शाम के संवारे हुए गोल, मोरपंखी पेड़ के नीचे खड़ा होकर उसे छुप-छुप कर देखा करता था। जब एम० ए० लिटरेचर में उसने दाखिला लिया था तो वह उसके पास आया था और सकुचाते हुए पूछा था—"आप हिस्ट्री में जा रही हैं? लिटरेचर क्यों नहीं लेतीं—आपकी पर्सनेलटी तो लिटरेचर में जाने की है।" यानी उसने दूसरे शब्दों में उसके सौन्दर्य की प्रशंसा की थी। लेकिन उसने मुस्करा कर जवाब दिया था—"लेकिन इतिहास में भी तो नूरजहां और हेलेन आफ ट्राय होती हैं।" और कुछ दिनों बाद उसने पाया था कि राजीव साहित्य विषय छोड़कर इतिहास की क्लास में ही बैठा था।

जो दर्प अपनी जीत का, जो नशा उस दिन उसके सिर चढ़ा था वह फिर कभी नहीं उतरा। उसे कोई युवक इस योग्य ही दिखाई नहीं पड़ा जिसके प्रति वह समर्पित हो सके। न अब वह शहर है—और न वह बंगला है—न पिता हैं। यहां तक कि वह स्वंय भी अब वह कहां है? रोज़ आईना देखते हुए पाती है उसके साथ साज़िश करके कोई और उसकी सूरत में शामिल होती चली जा रही है। राजीव आई० ए० एस० होकर विदेश में फारेन

सर्विस में चला गया है। उसको कितनी निराशा हुई थी जब प्रभा ने उसके प्रस्ताव को ठठाकर हंसते हुए नामंजूर किया था।

प्रभा ने करवट बदली—आंखों में दूर-दूर तक नींद का नाम नहीं था। पता नहीं राजीव अब कहां होगा, कैसा लगता होगा। काश! वह उसे देख पाती। राजीव का प्रणय निवेदन उसे बुरा कभी नहीं लगा था पर वह न जाने कितने-कितने ऐसे ही प्रणयी याचकों के निवेदन सुनना चाहती थी। कई बार किसी से जुड़ जाने के अवसर आये भी पर पता नहीं वह कौन सा भीतरी इंकार था जो उसे 'अभी नहीं अभी नहीं' कहते हुए आगे ही आगे ठेलता चला गया।

पिता ने मरने से पहले कई बार उसे समझाया था, "अब रिटायर हुए भी दस वर्ष हो रहे हैं बेटा—पता नहीं किस दिन आंखें बन्द हो जायें—राकेश को अपनी गृहस्थी से फुर्सत नहीं है—समर कनाडा में जा बसा है। बेटी अब··· ।" लेकिन कुछ नहीं हो पाया था और फिर वह मानिनी भी न जाने कब कैशोर्य की देहरी लांघ कर कुछ और ही हो चली थी।

उसे एकाएक प्यास लगी। वह प्यास को देर तक टालती रही पर प्यास दबा नहीं पाई। बेड स्वीच आन करके उठी—उसने पानी पिया और जब फिर से लेटने जा रही थी तो उसने कुर्सी पर एक मर्दाना रूमाल पड़ा देखा। दिमाग पर जोर दिया तो उसे याद आया 'ओह! नवतेज का होगा—अभी से कितना भुलक्कड़ है। उसने उस रूमाल को वहां से उठाकर मेज पर रख दिया और आंखें बन्द करके लेट गई। वह देर तक बगैर सोये ही बिस्तर पर पड़ी रही।

न जाने कब उसे हल्की सी झपकी लगी, तभी उसने देखा उसके सामने एक निरीह सा लड़का खड़ा है। वह काफी हाऊस में पूरी टेबिल लिए बैठी है—उस लड़के को कहीं जगह नहीं मिल रही है। लड़के के चेहरे पर हया, शर्म, संकोच, हिचक और न जाने मासूमियत भरे कितने भाव हैं। वह उसे अपने पास बुलवाती है और जीवन में पहली बार भीतर से द्वन्द्वहीन होकर किसी युवक को पास बिठा लेती है। सपना चलता रहता है और उसकी तन्द्रिल आंखों से आंख मिचौली करता रहता है और कुछ देर बाद उसकी आंखों में गहरी नींद व्याप जाती है।

———

—एफ/ई ७, नया कवि नगर,
गाज़ियाबाद–२०१००१

कहानी

छोटे आकाश तले

—संजना कौल

पूरे बारह वर्ष बाद कश्मीर आया हूं आज। यहां से बम्बई, बम्बई से न्यूयार्क और अब कुछ दिनों के लिए अपनी पितृभूमि में। न जाने कितनी कड़वी-मीठी यादें मन में छाई हुई हैं। बचपन की निश्चिन्त कुलांचें, सुनहरी जवानी के दिनों में बेकारी के तनावपूर्ण दिनों की कड़वाहट ! आज आया हूं अधेड़पन की ओर झुकती हुई कमर के साथ, अफसरी रोबीलेपन और ऐश्वर्य के अधिक से अधिक प्रतीकों को अपने साथ लिए हुए। जान गया हूं, मेरी जड़ें यहां से उखड़ चुकी हैं, यहां के समाज में घुलने-मिलने का, यहां के लोगों को अपना समझने का अधिकार शायद ही कभी मुझे लौटा दिया जाए, किन्तु मुझे कोई असुविधा नहीं हो रही है। अजनबी बन जाने की टीस मन में दूर-दूर तक नहीं है। उसके स्थान पर है अपनी सार्थकता का बोध। जवानी के रीतेपन को इस सार्थक अनुभूति ने पूरी तरह भर दिया है।

पिछले एक हफ्ते से मां और पिता जी का अगाध लाड़-दुलार पा रहा हूं। अब कल सवेरे से मां पीछे ही पड़ गई है कि छोटे बाबू को देख आऊं। इतने दिनों में एक बार भी अपने इस चाचा का ध्यान नहीं आया था, उनका और उनके परिवार का कुशल-क्षेम तक नहीं पूछा था। कल से असमंजस में पड़ गया हूं। कहां जाऊं और कैसे जाऊं ? इतने वर्षों के टूटे हुए सन्दर्भों को कैसे जोड़ दूं ? उनके प्रति लगाव का एक कण भी नहीं बचा है मन में, यद्यपि बहुत पहले की बातें याद आ रही हैं। चाची का स्नेह, छोटे बाबू की मेरे भविष्य के प्रति चिन्ता, दोस्ताना छेड़-छाड़, मीरा, नीता और मधु के धुंधले से चेहरे आंखों के सामने घूमते हैं। धीरू उन दिनों दस वर्ष का किशोर था, अब तो पूरा जवान हो गया होगा। आज इतने वर्षों बाद 'भाईसाहब' का स्नेह-सम्बोधन हल्के से टकरा जाता है कानों के परदों से, किन्तु कोई आत्मीय अनुभूति नहीं हो रही है। भावुकता के स्थान पर उन सबके प्रति तटस्थता है और मैं समझ जाता हूं कि मेरी जगह यहां के लोगों ने आपस में बांट ली है। उस क्षण को याद करने की कोशिश करता हूं जब यहां आने का निर्णय लिया था। मां और पिता जी के प्यार की चुम्बकीय शक्ति, पर वह दोनों भी तो बदल गए हैं। वात्सल्य और मेहमाननवाज़ी; कितना अन्तर है इन दोनों में !

आश्चर्य हो रहा है; गीता जाने के लिए मुझसे भी अधिक उत्सुक है। कश्मीर उसके लिए एकदम पराई जगह है। बचपन से बम्बई में पली है—शादी भी हमारी वहीं हुई थी। मां और पिता जी को यहां से बम्बई जाना पड़ा था। सोचता हूं, इसी बहाने गीता को एक नई जगह देखने को मिल जाएगी। मुझे ऐसा महसूस होता है, इस छोटे से शहर में वह बोर हो रही होगी। यह भी तो नहीं हो सकता कि छुट्टियों के गिने-चुने दिन सुबह से शाम तक घूमने-फिरने में ही बिता दिए जाएं। मां-पिता जी के लिए भी तो कुछ समय निकालना पड़ेगा और वे लोग हैं कि बातें करते हुए, हम लोगों को दुलारते हुए उनका जी ही नहीं भरता। मां के आग्रह का ख्याल करके और गीता को बारामुल्ला तक घुमाने की सोचकर आनन-फानन में प्रोग्राम बना डालता हूं। गीता से कपड़े चेंज करने को कहकर खुद दाढ़ी बनाने में लग जाता हूं।

बाबू ने पहले ही बता दिया था कि दो छोटे-छोटे कमरे और रसोई का एक कमरा छोटे बाबू को मिला है—कमरतोड़ किराए पर। मैं न तो सांकल खटखटाता हूं और न किसी को आवाज़ देता हूं। चोरों की तरह ड्योढ़ी से चलकर अन्दर के दरवाज़े तक आ जाता हूं। चाची ने शायद खिड़की से मुझे अन्दर आते हुए देख लिया है, मेरे दरवाज़े तक आते ही भीतर दौड़-भाग सी मच गई है। अन्दर आने से पहले ही देखता हूं, एक निहायत दुबली-पतली युवती अन्दर के कमरे में भाग रही है। उलझे हुए बाल, फीके से रंग का फिरन पहने हुए जो सामने से तार-तार हो चुका है। उसकी पीठ की ओर देखता हूं, नीता ही तो है। कितनी लम्बी हो गई है, पर मुझे देखकर यों भागने की क्या ज़रूरत थी? भीतर कहीं कुछ बुझ सा जाता है। गीता की ओर देखता हूं। वह भावहीन चेहरे के साथ मेरे साथ-साथ चल रही है।

कमरे में घबराई हुई चाची बिस्तर को एक मैली सी चादर से ढक रही है। फिर भी मैं देख लेता हूं, ऊपर रखे हुए गद्दे के फटे हुए भाग से ढेर सारी रूई बाहर झांक रही है। वह मधु है शायद, कपड़ों को खूंटियों पर टांग रही है। नीता के भागने का कारण कुछ-कुछ समझ में आ जाता है। निकट जाकर ज़ोर से नमस्ते बजाता हूं और कुछ अधिक ही प्यार जताता हुआ चाची से लिपट जाता हूं।

यह क्या? मन में कोई भावोद्वेलन नहीं? चाची से गले मिलने के लिए मुझे कोशिश क्यों करनी पड़ रही है? जीवन के सत्ताईस वर्षों तक जो मेरे अपने रहे हैं, उन्हीं के साथ पूरे बारह वर्षों बाद आ जुड़ने का यह क्षण मेरे भीतर अपनापन, इन्हीं के बीच का एक होने की परिचितता क्यों नहीं बिखेर रहा? सारे सवालों से कन्नी काट कर मैं स्थिर, सन्तुलित कम्पनी-मैनेजर बन जाता हूं।

मुझे एक ओर करके चाची गीता को गले से लगा लेती है। मैं यह कहूंगा, उसे अपने से छुआ कर अलग कर देती है। कुछ अच्छा नहीं लग रहा है गीता को, मेरी ओर बेचारगी से भरी हुई आंखों से देखती है। उसकी सादगी में भी जो आभिजात्य झलका पड़ रहा है, वह उस परिवेश में उसे और अधिक अजनबी बनाए दे रहा है। मधु को हाथ पकड़ कर मैं अपने

पास बैठा लेता हूं। उसके चेहरे से संकोच और घबराहट चू रही है। जो गद्दा चाची ने अभी फटाफट बिछाया था, उस पर हम दोनों को बैठाकर वह सामने बैठ जाती है।

"यह बताओ, तुमने तो कहलाया था, सोमवार को सवेरे आकर खाना हमारे साथ ही खाओगे। आए क्यों नहीं? हम खाना लेकर रात गए तक बैठे रहे।" चाची के स्वर में स्नेहिल रोष नहीं, हल्की सी खीझ है। मैं अन्दर से शर्मिन्दा हो जाता हूं। न जाने क्या-क्या बना रखा होगा उस दिन। वह सारा बेकार गया होगा। अपने बीते हुए समय में धसता चला जा रहा हूं। किसी 'अरिस्टोक्रैट' रिश्तेदार के आ जाने पर मां की परेशानी और हड़बड़ाहट याद आ जाती है। मैं भी तो इस समय चाची या छोटे बाबू का दुलारा तुषार नहीं, एक बाअसर, अफसर-मेहमान हूं। शायद इस अस्नेह का बिन्दु यहीं है।

"तू सुना मधु! इतनी चुप-चुप क्यों बैठी है? बता, पढ़ाई कैसी चल रही है तेरी? कॉलेज जाती होगी अब तो!" मैं सहज होने की कोशिश में एक ही सांस में कई सवाल कर डालता हूं।

पढ़ाई के प्रश्न के साथ ही मधु का चेहरा एकदम लाल हो जाता है। बेबस सी वह चाची की ओर देखने लगती है और चाची स्थिति को एकदम सम्भाल लेती है, "इस साल मैट्रिक का इम्तहान दिया था इसने, उसमें रह गई। हमने भी सोचा, दस तरह पढ़ाई में रुपया फूंकने से क्या फायदा। भैया, लड़की को घर के काम-काज का भी तो शऊर होना चाहिए। मेरी देह अब अधिक चलती नहीं, सो घर के काम-काज में भी इससे काफी मदद मिलती है। नीता को तो अपने ही काम से फुर्सत नहीं मिलती।" बात को समेटते हुए चाची हांफ जाती है। 'ढकने-छुपाने की अजीब सी कोशिश में मधु की सारी बेबसी उसकी आंखों में उतर जाती है।

गीता पहली बार बोल उठती है, "तो इसमें बुरा क्या है चाची जी! घर का काम करना, सिलाई-कढ़ाई सीखना तो बहुत अच्छी बात है। मुझे देखिए, मैं खाना बनाना, सीना-पिरोना नहीं जानती, कई बार कितनी समस्या हो जाती है मेरे लिए।"

चाची व्यंग्य और सद्भाव में भेद करने के ख्याल से गौर से गीता की ओर देखती है, किन्तु मधु की आंखों में भोला उल्लास खिल उठता है। अपना अजनबी बन चुकना पहली बार मुझे अखर जाता है।

"नमस्ते भाई साहब!" एकाएक मैं चौंक उठता हूं। नीता कमरे में आ गई है। कपड़े पूरी तरह बदल दिए हैं उसने। 'फिरन' के स्थान पर काली और सफेद धारियों वाली शॉल, इस्त्री की हुई शलवार और कमीज़। शलवार में तह की लकीर ताज़ी बनी हुई है। काजलांजी आंखों में बारह साल पहले की भोली, भावुक, किशोरी बहन को ढूंढता रह जाता हूं।

"कैसी हो नीता?" तमाम कोशिशों के बावजूद केवल मेरा हाथ आगे बढ़ जाता है। नीता मेरे हाथ को थाम लेती है और बाद में मेरे गले से लग जाती है। भ्रातृ-प्रेम के स्थान पर ऊब होती है मुझे। नीता के आलिंगन में उमड़ता हुआ स्नेह नहीं, निभाया जाता हुआ कर्त्तव्य महसूस होता है। इस तरह बन-ठन कर मेरे सामने आने की क्या ज़रूरत थी उसे?

क्या मैं पहले का तुषार नहीं हूं ? मुझे ऊंची नौकरी मिलने से ही क्या नीता मेरी बहन नहीं रह गई है ? मेरे सामने इतने बनावटीपन की आखिर ज़रूरत क्या है ? इससे बदतर स्थिति को झेल चुका हूं मैं। न जाने कितने अपमान सहे हैं, कितनी ठोकरें खाई हैं। पिता जी के डायरेक्टर की मेहरबानी से बम्बई की एक प्राइवेट कम्पनी में मामूली सी नौकरी मिल गई थी। सालों तक कलम घिसने के बाद अब छ: वर्षों से ही तो मैनेजर बना हुआ हूं। समय के उस टुकड़े को क्या ये लोग एकदम भूल चुके हैं जब मैं इन्हीं के बीच बेरोज़गारी के दिनों को कन्धों पर लादे हुए था ?

घर से निकलते हुए ज़रा सा भी लगाव महसूस नहीं किया था इनके प्रति, किन्तु उखड़ी हुई जड़ों का खालीपन अब मन में टीसने लगा है। इतना भावुक तो पिछले वर्षों से मैं कभी नहीं हुआ। आज समझ में नहीं आता, उखड़ चुकने के इस अहसास से रुलाई सी क्यों छूटने लगी है।

खाने में भात के साथ दो तरह का गोश्त, आलू-पनीर की सब्ज़ी और दही है। ठेठ कश्मीरी खाना जो मेहमानों को खिलाया जाता है। मुझे अच्छा नहीं लगता, "इतना सब कुछ बनाने की क्या ज़रूरत थी, चाची ? इतना बेगाना कब से हो गया मैं ? क्यों री नीता ? इसीलिए भाग कर बाज़ार गई थी और मेरे पूछने पर बात को हवा में उड़ा दिया था।" मेरी आवाज़ में अनचाहे ही नीता के प्रति बारह वर्षों का पुराना स्नेह मुखर हो उठता है। अपनी यह छोटी बहन मुझे बहुत प्यारी थी। बेकारी के दिनों में इसका साथ मेरे लिए बहुत बड़ा सहारा बन गया था।

"ऐसे कौन से बड़े व्यंजन बनाए हैं, भाईसाहब ? इस रूखे-सूखे को आप 'इतना सारा' कह रहे हैं ?" नीता हल्के से हंस देती है। मैं उसे देखता रह जाता हूं। नीता की बातचीत में भी यह औरताना तकल्लुफ आ गया है। उठकर चले जाने की इच्छा बड़े ज़ोरों से होने लगती है। मैं चुपचाप खाने की थाली में हाथ डालता हूं।

"तुम क्या कर रही हो आजकल ?" खाना खाते हुए हल्की-फुल्की बातचीत करने के 'मैनर' की याद करते ही मैं नीता से पूछता हूं।

"एक प्राइवेट स्कूल में पढ़ाती हूं, भाईसाहब। अभी पिछले साल बी० एस० सी० किया था। बी० एड० करना चाहती थी पर श्रीनगर के गवर्नमेंट कॉलेज में सीट मिलने का तो सवाल ही नहीं है और प्राइवेट कॉलेज में डोनेशन भरना पड़ता है।" वह सहम कर मां की ओर देखती है और फिर अचानक चुप हो जाती है। मैं अपने आपको अपराधी महसूस करता हूं। लगता है, मैं इन लोगों के स्वाभिमान को चोट पहुंचाने पर तुला हुआ हूं। ये लोग मन ही मन कोस रहे होंगे, सोचकर सिहर सा उठता हूं।

चाची, नीता या मधु को अपने साथ खाने के लिए कहने की बात बेकार लगती है। जानता हूं, इनके पास पहले से बनाकर रखा हुआ कोई न कोई बहाना होगा। मेरी और गीता की थालियों में रखी हुई चीज़ों में से इनके चखने के लिए भी कुछ नहीं बचा होगा। गोश्त और पनीर मुंह में जाकर कसैले लुआब में बदलते जा रहे हैं।

खाना खाने के बाद और अधिक अनमना हो उठता हूं। नींद भी नहीं आती। नीता और चाची के साथ इधर-उधर की बेकार की बातें करता रहता हूं। छोटे बाबू का स्कूल प्राइवेट है। रिटायरमेंट के बाद बड़ी मुश्किल से यह नौकरी मिली है। बीच में चाची की बीमारी के मौके पर वे कई छुट्टियां ले चुके हैं और हैडमास्टर उनसे असन्तुष्ट हैं। उन्हें स्कूल से बुलाना अच्छा नहीं होगा। मैं चाची की बात का ज़ोरों से समर्थन करता हूं।

ठीक साढ़े तीन बजे छोटे बाबू स्कूल से आते हैं और आते ही मुझे सीने से चिपटा लेते हैं। थरथराता हुआ आशीर्वाद, कांपती हुई बांहें, ठण्डे होंठों का स्नेहिल स्पर्श, खरा नैकट्य। न चाहने पर भी आंखें गीली हो जाती हैं।

"कितने अर्से बाद आया है और इतने दिनों में इस बूढ़े की याद तक नहीं आई तुझे ?" वह प्यार भरी झिड़की देते हैं। पहली बार मैं मन से मुस्करा देता हूं, "ऐसा आपने क्योंकर सोचा, छोटे बाबू ? कश्मीर आता और आप लोगों से न मिलता ? इतना नालायक नहीं हूं।" वार्तालाप में अनजाने ही आत्मीयता घुल रही है। रोम-रोम में परिचय लहरा रहा है। कौन कहता है मेरी जड़ें उखड़ चुकी हैं ? यहीं तो हैं मेरे मूल ; छोटे बाबू में, मां और पिता जी में। इन बहनों और चाची को भी शायद गलत समझ बैठा हूं। जड़हीन होकर भला कौन जी सकता है ?

"अब तो अपनी तहकीकात खत्म कीजिए, छोटे बाबू।" मैं फिकरा कसता हूं और एक सरल हंसी के साथ खाने-पीने के बारे में छोटे बाबू के सवाल बन्द हो जाते हैं। संघर्ष की रेखाएं उनके हंसमुख चेहरे पर गहरे खुद गई हैं। सिर पर बचे हुए चन्द एक बाल पूरी तरह सफेद हो चुके हैं। शरीर बहुत अधिक दुबला गया है।

यहां आने के बाद पहली बार खुलकर छोटे बाबू से बातें करता हूं। वे काफी देर तक मेरे बारे में पूछते हैं, अधिकतर मेरे पोस्ट और मेरी कम्पनी के बारे में। फिर अचानक धीरू का ज़िक्र कर बैठते हैं। मैं उछल पड़ता हूं, "अरे, वह छोकरा अभी तक घर नहीं आया। उसके बारे में पूछना तो मैं भूल ही गया। क्या बात है, छोटे बाबू ?"

"यहीं कहीं गया होगा किसी दोस्त के यहां।" वे लापरवाही से कहते हैं और फिर असली बात पर आ जाते हैं, "तुषार धीरू की नौकरी लगवा दे न कहीं ! तू तो इतनी बड़ी कम्पनी में काम करता है। कोई छोटी-मोटी नौकरी तो उसे मिल ही जाएगी।"

"पर वह तो अभी पढ़ रहा है न, छोटे बाबू !" मुझे अपनी बेकारी याद आ जाती है।

"नहीं रे ! बी० ए० में थर्ड डिवीजन मिली थी उसे। आगे की पढ़ाई में मन नहीं लगा। जानता है तुषार, मीरा की शादी का कर्ज़ अभी तक उतरा नहीं है। नीता एक प्राइवेट स्कूल में काम करती है और वहां से जितने रुपए मिलते हैं, वे सारे से सारे उसकी मां बैंक में जमा करवाती है। आखिर उसकी भी तो शादी होनी है। घर का बोझ मुझसे सम्भाले नहीं सम्भलता और जानता है, नीता अट्ठाईस की हो गई है, उसके विवाह की चिन्ता अलग से खाए जा रही है। कुछ समझ में नहीं आता, क्या करूं। तू अगर धीरू को नौकरी दिला दे तो मुझ पर बड़ा अहसान होगा।" छोटे बाबू की याचना से भरी आंखें मेरी बरदाश्त से

बाहर हो रही हैं। मैं आंखें फेरने को विवश हो जाता हूं, "कोशिश करूंगा छोटे बाबू और थोड़ी सी भी उम्मीद बांधने पर आपको अवश्य लिखूंगा।"

डूबते हुए छोटे बाबू को तिनके का सहारा मिल गया है। वे कृतज्ञतापूर्वक मेरे दोनों हाथ पकड़ लेते हैं और दौड़ कर शायद चाची को इसके बारे में बताते हैं। मुझे अपने आपसे गहरी नफरत हो जाती है। इन पर पहले ही इतना कर्ज चढ़ा हुआ है। ऊपर से मेरे और गीता के खाने में न जाने कितना खर्च हो गया होगा।

जाने से पहले मैं मधु के हाथों में बीस रुपए पकड़ा कर स्वयं को भारमुक्त सा करता हूं और घुटी हुई सांस को दो-तीन लम्बी सांसों के साथ ठीक कर लेता हूं। चाची और छोटे बाबू की अनुभवी आखें कुछ ताड़ जाती हैं, लेकिन छोटी बहन को दिए हुए पैसों के नाम पर रुपए रख लिए जाते हैं।

छोटे बाबू नीता के साथ हमें बस में बिठाने हमारे साथ आते हैं। चलते हुए फिर वे मेरा हाथ पकड़ लेते हैं, "मेरी बात याद रखेगा न, तुषार! धीरू की नौकरी के लिए कोशिश करेगा न?"

"जरूर, छोटे बाबू!"

"जीता रह। तू तो मेरा सबसे अच्छा बेटा है।" मैं सहानुभूति से भर आता हूं। अपनी बेकारी के दिनों में पिता जी की मनःस्थिति याद आ जाती है, पर थोड़ी ही देर में अन्दर से कठोर हो उठता हूं। इन लोगों के लिए तुषार कोई महत्त्व नहीं रखता, कम्पनी का मैनेजर इनके बेटे को नौकरी दिला सकता है। यही एक रिश्ता बच गया है। छोटा शहर, छोटे लोग!

बस में चढ़ने से पहले छोटे बाबू अतिरिक्त प्रेम से (मुझे ऐसा ही लगता है) फिर आने का आग्रह करते हैं। मैं सिर हिलाता हुआ बस की ओर बढ़ता हूं। नीता की ओर देखकर हाथ हिलाता हूं तो उसके जुड़े हुए हाथ और नम आंखें दिखाई देती हैं। बारह वर्ष पहले की निर्मल, मासूम आंखें, कुछ क्षणों तक उसकी तरफ देखे बिना नहीं रहा जाता।

बस चलने के बाद गीता मेरी तरफ मुड़ती है, "काफी फॉरमल है तुम्हारे छोटे बाबू का परिवार।"

मैं मुस्करा कर लापरवाही दिखाने की कोशिश करता हूं, पर मेरे भीतर बारह वर्ष पहले के तुषार और कम्पनी मैनेजर तुषार में द्वन्द्व चल रहा है और अन्त में कम्पनी मैनेजर की विजय होती है। बम्बई का जगमगाता हुआ महानगर आंखें झपकाता हुआ मुझे बुला रहा है। वहां की भीड़ भरी सड़कें पुकार-पुकार कर मुझे लौट आने के लिए कह रही हैं। सारे रिश्ते, सारे मनोवेग किसी धुंध में घुलते जाते हैं और बचा रहता है अनादि, अनन्त महानगर। सड़क के दोनों ओर पहले की तरह ही लेटे हुए खेत हैं और हैं जगह-जगह झुंड बनाकर बैठे हुए ग्रामीण। इन सबके मध्य घर याद आ जाता है और मैं सारे परिवेश के प्रति भीतर तक वितृष्ण हो उठता हूं। सोचता हूं, बेकार में इक्कीस दिनों की छुट्टियां लेकर समय खराब कर डाला, मां और पिता जी को देख आने के लिए एक हफ्ते की छुट्टियां काफी थीं।

———

निबन्ध

लोक और शास्त्र में भावना

—डॉ० उमा पाण्डय

जीवन के विभिन्न पहलुओं में भावना का विशेष महत्त्व है। अपने प्रतिदिन के जीवन से लेकर धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान जैसे शास्त्र भावना के महत्त्व को स्वीकार करते हैं।

सर्वप्रथम धर्म को ही लीजिए। सभी धर्मों में धार्मिक क्रिया-कलाप सम्बन्धी अनुष्ठान पक्ष उपलब्ध होता है। अनेक कामनाओं की सिद्धि के लिए सभी धर्मों में कुछ न कुछ करना पड़ता है और यह विश्वास किया जाता है कि इन अनुष्ठानों से मनोवांछित फल की प्राप्ति होगी। इसे धर्म का व्यावहारिक पक्ष कह सकते हैं। धार्मिक अनुष्ठानों के यह भवन श्रद्धा और विश्वास की भित्ति पर खड़े हैं। इन अनुष्ठानों के अभाव में धर्म सम्बन्धी भावनाएं मनस्तर तक सीमित रह कर निष्फल सी रह जाती हैं।

जैन, बौद्ध, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी, हिन्दू आदि सभी धर्मों में यह अनुष्ठान पक्ष या कर्मकाण्ड अत्यन्त सुनिरूपित और सुसंबद्ध नियमों के द्वारा सुरक्षित कर दिया गया है। वैदिक धर्म में विविध प्रकार के यज्ञ, सत्र, व्रत, उपवास और संस्कार इसी अनुष्ठान पक्ष के अंग हैं। इतना ही नहीं सभी धर्मों के अनुयायी बड़े श्रद्धाभाव से इन अनुष्ठानों का पालन करते हैं। किन्तु जो लोग आधुनिकता के प्रभाव में इनकी उपेक्षा या उपहास करते हैं वे अपने-अपने समाज में हीन दृष्टि से देखे जाते हैं।

धर्म के इस अनुष्ठान पक्ष के उद्भव के कारणों पर यदि विचार किया जाये तो कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्य हमारे सामने आते हैं। कर्म-काण्ड या अनुष्ठानपक्ष का घनिष्ठ सम्बन्ध उपासना से है। उदाहरण के लिए जिस देवता के लिए हवि ग्रहण की जाती है, मन से उसका ध्यान करना होता है। ध्येय के प्रति ध्यानामयी मनोवृत्ति का यह सम्बन्ध जितना ही घनिष्ठ होगा अभीष्ट की सिद्धि की संभावना भी उतनी अधिक होगी।

संसार के सभी धर्मों के अनुष्ठान, चाहे वे सभ्य जातियों के हों अथवा असभ्य जातियों के, भावना पर आधारित हैं। उपासना के अन्तर्गत भावना की बाह्य परिणति, बाह्य पूजा और

अनुष्ठान आते हैं। इन अनुष्ठानों के लिए विशेष-विशेष विधियां, वस्तुएं तथा बलि आदि का विधान पाया जाता है। ऐसा विश्वास है कि इन अनुष्ठानों से अधिकारी विशेष को अलौकिक शक्तियाँ और सिद्धियां प्राप्त होती हैं। इसे पाश्चात्य विद्वानों ने 'मैजिक' नाम दिया है। अनेक सिद्ध महात्माओं, पैगम्बरों, सन्तों के जीवन में ऐसी अनेक घटनाएं घटित होती देखी जाती हैं। मनोविज्ञान और परामनोविज्ञान में ऐसी घटनाएं आजके युग में परीक्षण साध्य मान ली गई हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के मूल कारण की छानबीन करने पर मनःशक्ति जोकि भावना रूप में अभिव्यक्त होती है, इनके मूल में क्रियाशील दिखलाई पड़ती है। वेद में 'मन अनन्त है' 'मन ही समस्त जगत् है' कहकर मन की सर्वक्रिया समर्थन संकल्प शक्ति को स्वीकार किया गया है। सृष्टि-प्रक्रिया में ईश्वर की संकल्प शक्ति ही इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण कही गई है। जब ऐसी ही संकल्प-शक्ति का विकास साधक के मन में होता है तब वह भी ऐसी शक्ति से सम्पन्न हो अलौकिक कार्यों को करने में समर्थ हो जाता है। श्री अरविन्द जैसे विद्वान् साधक ने भी साधना के द्वारा मानव का अतिमानव के रूप में तथा उसके सामान्य मन का विकसित हो अतिमनस्तत्त्व में परिणत हो जाना स्वीकार किया है।

महर्षि पतञ्जलि ने अलौकिक शक्तियों को चित्तसत्य का ही परिणाम माना है। चित्त के विकास क्रम में उसकी विभिन्न भूमियों में अनेक प्रकार की शक्तियों का आविर्भाव होता है। योगदर्शन के 'विभूतिपाद' में योग-साधना से उत्पन्न होने वाली इन्हीं अलौकिक शक्तियों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

मन अलौकिक-शक्ति सम्पन्न है इसे भारतीय दर्शन में स्वीकार किया गया है। इस मनस्शक्ति और भावना में घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य में तो भावना का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। लोक के इतिहास प्रसिद्ध आलम्बन-पात्र और उद्दीपन वस्तुएं और परिस्थितियां आदि वर्तमान समय में उपस्थित न होने पर भी कवि द्वारा काव्य तथा नाटकों में आलम्बन और उद्दीपन विभावों के रूप में उपनिबद्ध किए जाते हैं तो कवि-कौशल के द्वारा पाठक एवं प्रेक्षक को तन्मयीभवन की अवस्था को प्राप्त करा देते हैं। इसका कारण सहृदयों के मन की भावना-शक्ति ही है। इसी को कल्पना या 'इमेजिनेशन' भी समझना चाहिए। सहृदय पाठक या प्रेक्षक की यह कल्पना-शक्ति अभ्यास और नैपुण्य से इतनी विकसित हो जाती है कि वह कृत्रिम और अवास्तविक पात्रों और परिस्थितियों में अपनी भावना के द्वारा उन पर यथार्थ का आरोप कर लेता है। अपनी भावना की प्रगाढ़ता के कारण वह सहृदय प्रेक्षागृह में इतना तन्मय हो जाता है कि उसकी समग्र चेतना, आलम्बन के भावों और सुख-दुःखादि से साधारणीकरण की प्रक्रिया के द्वारा तादात्म्य स्थापित कर लेती है। वह काव्य के परम प्रयोजन रस की अनुभूति करता हुआ संविद्-विश्रान्ति द्वारा अलौकिक आनन्द में निमग्न हो जाता है। पूर्वानुभूति से कवि और सहृदय के मनस्पटल पर जो संस्कार स्थायी रूप से अंकित हो जाते हैं, उन्हें वासना कहते हैं। इस वासना के आधार पर ही प्रेक्षक की भावना या कल्पना की क्रिया-शक्ति उसे रसास्वादन में सहायक होती है। किन्तु जो व्यक्ति अनुभूतिजन्य इन पूर्व संस्कारों

से रहित होते हैं उनमें भावना-शक्ति क्रियाशील नहीं हो सकती और न वे रसास्वादन के अधिकारी ही बनते हैं। आचार्य विश्वानाथ ने वासना या संस्कारों से युक्त सभ्य (सहृदय) व्यक्तियों को ही रसास्वादन होता है ऐसा माना है, वासना-रहित प्रेक्षक तो रंगशाला में काष्ठादिवत् है। काव्य जन्य रसास्वादन के इन अधिकारियों को 'सचेतस', 'सहृदय' तथा 'सभ्य' माना गया है। ऐसे व्यक्ति अपने पुण्य के प्रताप से ही इस प्रकार के रसोपयोगी संस्कारों से वासित हृदय प्राप्त करते हैं। किन्तु जो प्राक्तन पुण्यशाली सहृदय नहीं हैं वे काव्य के क्षेत्र से बाहर तथा रसानुभूति के सर्वथा अनधिकारी, असहृदय तथा जड़ कहे गए हैं। रसानुभूति की प्रक्रिया में भावना का कितना महत्त्व है यहां स्पष्ट हो जाता है।

योगदर्शन में भावना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कई स्थानों पर 'भावना' शब्द का प्रयोग हुआ है। आचार्य वाचस्पति, भाव गणेश तथा मणिप्रभा के टीकाकार ने 'भावना' की व्याख्याएं उपस्थित की हैं। आचार्य वाचस्पति के अनुसार चित्त का बारम्बार निवेशन भावना कहलाता है। साधक की प्रारम्भ में समाधि नहीं लगती क्योंकि उसका चित्त चंचल रहता है। किन्तु वह बारम्बार चित्त एकाग्रता का निवेश भावना द्वारा मन में करता है, जिससे वह चित्त-निरोध रूप समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। ऐसा साधक निस्तरंग महोदधि का ध्यान करता है और उसी के समान अपने चित्त को, वृत्तिरूप तरंगों से रहित कर, प्रशान्त अवस्था में रखने का प्रयत्न भावना द्वारा करता है। दीर्घकाल तक निरन्तर ऐसा अभ्यास करने पर उसका विक्षिप्त चित्त उसी प्रकार एकाग्र, शान्त और निरुद्ध चित्त में परिणत हो जाता है जिस प्रकार सहृदय अप्रत्यक्ष भूतकाल के आलम्बनादि विभावों को अपनी भावना शक्ति की प्रौढ़ता से न केवल रामादि आलम्बन और उनके भावों से तादात्म्य स्थापित करता है, बल्कि भावना के प्रकर्ष से वह देश, काल एवं पात्र के परिहार पूर्वक उस समय अपने को नायक ही समझने लगता है। फलतः नायकगत अनुभूति उसकी अपनी अनुभूति हो जाती है। लौकिक कारण भी काव्य में निबद्ध हो सहृदय की भावना शक्ति के द्वारा अलौकिक रस की निष्पत्ति के कारण बन जाते हैं। उसी प्रकार योग-साधना में भी साधक का विक्षिप्त मन एकाग्रता की बारम्बार भावना करने से सर्वथा एकाग्र होकर निरोध-समाधि का लाभ करता है जोकि योग साधना का परम लक्ष्य है। चित्त को निर्मल या शान्त करने के लिए योगदर्शन में 'परिकर्म' नामक जो उपाय बतलाए गए हैं उनमें भी भावना का विशेष महत्त्व है। वहां कहा गया है कि साधक सुखीजनों के प्रति मैत्री, दुःखीजनों के प्रति करुणा, पुण्यात्माओं के प्रति हर्ष और अपुण्यात्माओं के प्रति उपेक्षा की भावना करे।

धर्म-साधन के अनुष्ठान पक्ष में भावना का बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान है। धर्मपथ के साधक अपने-अपने अधिकार के अनुसार अपने इष्ट देवता को स्वभावना के अनुकूल कल्पित करते हैं। क्योंकि धर्म-साधना रागात्मक सम्बन्ध और मन के अस्तित्व को लेकर चलती है। फलतः यहां साधक या भक्त अपने अन्तःकरण को शुद्ध कर अपने इष्ट के साथ रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना करता है और उसकी सन्तुष्टि और प्रसन्नता के लिए नाना प्रकार की पूजा-सामग्री समर्पित करता है और प्रदक्षिणा, साष्टांग प्रणाम, करताल पूर्वक संकीर्तन और भजन आदि

शारीरिक और मानसिक क्रियाओं को साधन रूप में ग्रहण करता है। भक्त के यह सभी क्रिया-कलाप भावना मूलक ही होते हैं। एक ही इष्ट के उपासक अपने रागानुकूल उस देवता के रूप की भावना कर उसकी पूजा करते हैं। वे कल्पित दास्यादि भावों के द्वारा अपने को अभीष्ट का सेवक, सखा, कान्ता आदि मान लेते हैं। भक्त के ये समस्त क्रिया-कलाप एकमात्र मानसिक रागवृत्ति के परिसाधन मात्र हैं जो उसकी भावना के परिणाम हैं।

उपयुक्त साधन और अभीष्ट की प्रतिमा के अभाव में भक्त अपनी भावना से मानसिक पूजा का आयोजन करता है। वह अपने इष्ट की मूर्ति को बाह्य आकाश, चन्द्र विम्ब, सूर्य-मण्डल या हृदय-पुण्डरीक आदि पीठों पर स्थापित कर लेता है। अपनी रुचि के अनुसार वह अपने इष्ट को द्विभुज, चतुर्भुज, अष्टभुज आदि रूपों में भावित कर लेता है और भावना के द्वारा ही षोडशोपचार के लिए स्वर्ग के पारिजात पुष्पों, दिव्य वस्त्राभूषणों और नैवेद्य का आयोजन कर उन्हें समर्पित करता है। मनसा परिक्रमा करके वह असीम और अनन्त की प्रदक्षिणा का कार्य सम्पन्न करता है। सहस्र योजन दूर रहते हुए भी भगवती गंगा का नामोच्चार करके पाप से मुक्त होने की भावना करता है। स्नान के समय 'गंगा च यमुना चैव' इत्यादि कहकर सप्त पावन सरिताओं का आह्वान कर लेता है और पुण्यतीर्थ में स्नानजन्य पुण्य का भागी बनता है। सिक्ख भक्त सामान्य शर्बत को अमृत में और ईसाई पादरी सामान्य जल को भावना द्वारा वपतिस्मा के लिए पवित्र जल में परिणत मानता है। इष्ट का आह्वान और विसर्जन तथा नैवेद्य-ग्रहणादि पूजा उसकी मानसिक भावना से ही जन्य होते हैं। जिस प्रकार कवि अपनी कल्पना में निमग्न होकर अपने काव्य में मनोनुकूल पात्रों की सृष्टि करता है, अपनी रुचि के अनुसार समग्र विश्व की उत्पत्ति और उसका परिवर्तन कर लेता है, उसी प्रकार भक्तिमार्ग का साधक भी अपनी भावना-सृष्टि का उत्पादन, वर्धन, विकास और परिवर्तन करके सन्तोष का अनुभव करता है।

भावना केवल भूतवस्तु की ही नहीं होती बल्कि अभूत वस्तु या सर्वथा कल्पित वस्तु की भी होती है। बच्चे अन्धकार में भूत, हौवा आदि को भावना के आधार पर ही देखते हैं। कामी पुरुष सामान्य हाड़मांस की स्त्री में चन्द्र, कमल और पर्वतों की कल्पना करके अपनी भावना-शक्ति से आत्मविभोर होता है। भावना के ही द्वारा उसी स्त्री में शंकर और भर्तृहरि जैसे विरक्त पुरुष, विरुद्ध भावना करके उसके मुख को श्लेष्मागार, स्तनों को मांस-ग्रन्थि के रूप में प्रदर्शित करते हुए साधक को वैराग्य की ओर ले जाते हैं। यह भावना-शक्ति कितनी प्रबल हो सकती है इस सम्बन्ध में अनेक दृष्टान्त मनोविज्ञान में मिलते हैं जहां मनुष्यों की भावनावश मृत्यु तक हो गई है। चिकित्सा शास्त्र भी अधिकांश रोगों को रोगी की भावना का परिणाम मानता है।

तीव्र भावना से न केवल मन का ही परिणाम होता है बल्कि शरीर की भी अपूर्व परिणति हो जाती है। मनुष्य की भावनाएं उसके चेहरे को प्रियदर्शी या कुरूप बना देती हैं। साधक के शरीर की ध्येय-स्वरूप में परिणति भावना के प्रकर्ष पर आधारित है। योगदर्शन

में प्रबल भावना और इच्छा-शक्ति के द्वारा योगी के एक ही काल में अनेक शरीर धारण (निर्माण काम सिद्धि) करने की बात कही गई है। गीता भी ब्राह्मण और चाण्डाल में भावना के द्वारा ही समदर्शी होने का उपदेश दे रही है। प्रतीकोपासना में भी सर्वत्र भावना का प्राधान्य है। ब्रह्माग्नि में ब्रह्म के द्वारा हवि अथवा स्त्री में अग्नि की सम्पूर्ण कल्पनाएं भावना मूलक ही हैं। ईशावास्योपनिषद् में जगत् के समस्त पदार्थों को ईश्वर से आच्छादित करने की बात भावना पर ही आधारित है। इस प्रकार लोक और शास्त्र दोनों ही में भावना का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

———

— संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

लेख

डोगरी लोकगीतों में मायका तथा ससुराल

—जितेन्द्र शर्मा

किसी भाषा को संवारने और उसके साहित्य को निखारने में उस भाषा के लोकगीतों तथा लोक-गाथाओं के महत्त्वपूर्ण योगदान को नकारा नहीं जा सकता। यह एक ऐसा बहुमूल्य और कभी समाप्त न होने वाला खज़ाना है, जिसमें से कितने ही शब्द और मुहावरे बटोर कर, अनन्त विषयों तथा भावनाओं से प्रेरित होकर उच्चकोटि के साहित्य की रचना की जाती है। सच तो यह है कि लोक-साहित्य की नींव पर ही हर भाषा के साहित्य रूपी गगन-चुम्बी भवन का निर्माण किया जाता है।

लोकगीतों का सम्बन्ध प्राय: कविता से कम और संगीत से अधिक हुआ करता है। फिर भी इनमें एक ऐसी सादगी, एक ऐसी बेबाकी देखने को मिलती है जो शिष्ट साहित्य में बहुत कम नज़र आती है। लोकगीतों में दैनन्दिन जीवन का अछूता वर्णन मिलता है। इनमें कहीं जीवन की उलझनों की झलक दिखाई देती है तो कहीं मनुष्य की छोटी-छोटी खुशियों तथा सफलताओं की रंग-बिरंगी तस्वीरें नज़र आती हैं। इनमें आंसू हैं और आहें भी। अट्टहास हैं और किलकारियां भी। इनमें प्यार की पवित्रता भी है और ईर्ष्या-द्वेष की झुलसा देने वाली आग भी। इनमें मिलन की मिठास है तो विरह की बेकरारी भी। इनमें ममता की लोरियां हैं, मायके की तड़पा देने वाली याद है और ससुराल की मजबूरियाँ हैं यानी हमारे जीवन, हमारे समाज का कोई पहलू, कोई तस्वीर ऐसी नहीं जो लोकगीतों में धड़कती सुनाई न दे।

डोगरी लोकगीत कई प्रकार के हैं जैसे "संस्कार-गीत" जो जन्म से लेकर मरने तक के सभी मरहलों से सम्बन्ध रखने वाले रस्मों-रिवाजों के गीत हैं। "बारां" हमारे शूरवीर पुरखों और योद्धाओं की वीरता का बखान करती हैं। "कारकां" देवी-देवताओं, सन्तों-फकीरों के चमत्कारों का वर्णन करती हैं। इनके अतिरिक्त खेती-बाड़ी, भिन्न-भिन्न मौसमों से सम्बन्धित लोकगीत इत्यादि डोगरी लोक-साहित्य का अनमोल खज़ाना हैं।

डोगरी लोकगीतों की सबसे अधिक प्रभावशाली और लोकप्रिय विधा है "भाखां"। इन्हें विशेष अन्दाज़ से गाया जाता है। गाने वाले इकट्ठे मिल-बैठ, एक हाथ कान पर रखकर

और दूसरा हवा में लहराते हुए इन्हें गाते हैं। सभी एक ही स्वर में भाख आरम्भ करते हैं परन्तु बाद में भिन्न-भिन्न स्वरों के सुन्दर-मिश्रण से पाश्चात्त्य संगीत *Harmony* का सा समां बंध जाता है। भाखों के विषयों का दायरा बहुत विशाल और विस्तृत है। इनमें भी जीवन के लगभग सभी पहलू व्यक्त किये गये हैं। इन्हीं भाखों में कहीं मायके की व्याकुल कर देने वाली याद नज़र आती है तो कहीं ससुराल की जानलेवा घुटन दीख पड़ती है।

माता-पिता भले ही गरीब हों फिर भी यथाशक्ति अपनी संतान की हर खुशी पूरी करने का प्रयत्न करते हैं। अपने कलेजे के टुकड़ों को लाड़-प्यार तथा नाज़-दुलार से पालते हैं। ऐसे प्यार भरे और चिन्ताहीन वातावरण में पल कर लड़की जब जवान होती है तो उसका विवाह कर दिया जाता है और वह बेचारी मां-बाप के दुलार, सहेलियों के प्यार और अपने चिर-परिचित घर-आंगन तथा गली-मुहल्लों को सदा-सदा के लिए त्याग कर अचानक अनजाने वातावरण में पदार्पण करती है और वहां अजनबियों की भीड़ में घिर जाती है, किसी से दिल की बात कहने की हिम्मत नहीं जुटा पाती। बस पौ-फटने से लेकर दिन ढलने तक मशीन की तरह काम-धन्धों में जुटी रहती है। कई बार उसका पति आर्थिक कठिनाइयों के कारण फौज में भरती हो जाता है या नौकरी की तलाश में घर से दूर निकल जाता है और अपनी नयी-नवेली दुल्हिन को सास और ननद के कंटीले तानों से जूझने के लिये छोड़ जाता है। ऐसी स्थिति में उस बेचारी को मायके की मीठी यादें न तड़पाएंगी तो और क्या होगा? ऐसी कठिन परिस्थितियों में उसके होठों पर ससुराल के नित-नये अत्याचारों के विरुद्ध शिकायत न उभरेगी तो और क्या होगा? ऐसी ही एक अभागिन के मानसिक द्वन्द्व का कैसा अनूठा वर्णन मिलता है इस लोकगीत के बोलों में—

उचे-उचे बंगले ते उचियां-उचियां बैठकां
खरा देश्रा लगदा की बापू जी दा देस ओ?
नीह्‌ठे नीह्‌ठे बंगले ते नीह्‌ठियाँ नीह्‌ठियां बैठकां
बुरा देश्रा लगदा की सौह्‌रियें दा देस ओ?"

मायके की हवेलियों और खुली बैठकों की याद आते ही बाबुल के प्यारे देस की कद्र और कीमत का पता चलता है और ससुराल की तंग और अंधेरी कोठरियों में एक अजीब घुटन, एक कुण्ठा महसूस होने लगती है। यही भाव एक और लोकगीत में ऐसे प्रस्तुत किए गये हैं—

प्योके कुस राजे बनाए, गलें खूब दड़ंगे लाए।
सौह्‌रे कुस भड़ुए बनाए, उड़दे पंछी पिंजरे पाए।

अर्थात् ऐसा मायका किस राजे ने बनवाया जिसकी गलियों में मैं जंगली हिरनी की तरह कूदती-फलांगती थी? और यह ससुराल किस कम्बख्त ने बनवायी जहां उड़ते पंछी को पिंजरे में बन्द कर दिया गया?

जब विवाह के बाद कन्या को डोली में बिठाकर ससुराल भेजने की तैयारी कर ली जाती है तो वह बेचारी मायके के एक-एक सुख को स्मरण कर बड़े ही मार्मिक बैन करती है, वह

वहीं रुके रहने के लिए सौ-सौ हीले-बहाने ढूंढती है परन्तु उसका बाबुल अपनी चहेती को हर हाल में ससुराल भेजने के लिए बाध्य है—

तेरे मैह्लें दे बिच-बिच बे, बाबल डोला नई लंगदा।
दो इट्टां पटा सुट्टां गे, धीए घर जा अपने।।
तेरे बागें दे बिच बिच बे, बाबल डोला नई लंगदा।
दो रुख बडा सुट्टां गे, धीए घर जा अपने।।

एक और लोकगीत की कुछ पंक्तियां देखिये जिसमें चार बहनों के विवाह की चर्चा है। वह चारों बारी-बारी दहेज लेकर अपनी इच्छा के विरुद्ध नदी-नालों को पार करती हुई ऊंचे पर्वतों पर आबाद अपने-अपने ससुराल पहुंच जाती हैं—

अस चारै बैह्नां चार चारै लाडलियां,
साह्नूं बाबल दित्तड़ा दाज घोड़े पालकियां,
अस उड्डीयां बारो-बार, फंग डुआर,
नदिया पार, उचड़े परबत साढ़े देस बो।

मैदानी इलाके के सुख-आराम में पली एक बदनसीब लड़की किसी दूर-दराज़ पहाड़ी गांव में ब्याही जाती है जहां दिन भर खेतों-खलिहानों में काम करना पड़ता है तो उसे मां की सुखदायी गोद याद आ जाती है और उसके होंठों पर यह शिकवा उभर आता है—

जली जाए पहाड़ियें दा ए देस अमां जी में नइयों बस्सना,
खाने जो कचालू दिन्दे गुडनु कुदालु दिन्दे;
दस्सी दिन्दे लम्मे-लम्मे खेत अमां जी में नइयों बस्सना।।

दन्दलू-दराटू माए हत्थ फड़काई दिन्दे,
दस्सी दि दे उच्चे-उच्चे ढेर अमां जी में नइयों बस्सना।।

ससुराल में किसी नवयौवना को जब मायके की याद सताती है तो वह बीच में हायल चम्बे के पहाड़ से यूं बिनती करती है—

चम्बे दिये धारे बिन्द नीह्ठड़ी होयाँ,
रारें मेरे सौह्रिये ते पारें मेरे प्योकिये।

और अब उस अभागिन की त्रासदी का अनुमान लगाइये जो प्यारी मां के मरने की वज्र के समान कठोर सूचना मिलने पर मीलों पैदल चलकर मायके पहुंचती है और भाई-भावजों की बेरुखी को देखकर झुंझला उठती है—

दूरा दा आइयां चलके मां दर विच रेइयां खड़ी
हे मेरी रानिये माँ,
भाबो नईं दित्तड़ा बिन्नड़ा मां बीरे नईं आखेआ बौ
हे मेरी रानिये मां,
मित्ती दा बुत्तनां बनानी आं मां ओदे गल लगनियां रो
हे मेरी रानिये मां।।

सावन के महीने के आते ही हर ब्याही लड़की को मैके की याद तड़पाने लगती है क्योंकि डुग्गर के हर गांव में बरसात के दिनों राह्ड़ों का त्यौहार मनाया जाता है, सहेलियों के संग नाचने-गाने तथा झूला झूलने का मज़ा लिया जाता है। यह सोचकर वह भाई को संदेशा भेजती है कि वह आकर उसे ले जाए परन्तु भाई है कि रावी में सैलाब का बहाना करके टाल देता है—

प्योके दी लग्गी ऐ दुम्रासी बीरा सद्दी लेई जायां
सावन म्हीने दे पानी न गैह्रे कियाँ टप्पनाँ राविया पार
भैनें घर रौ अपने
चन्नन बडानियां, बेड़ी बनानियां
ओदे दर टप्पना पार बीरा सद्दी लेई जायाँ।

और अन्त में उस लोकगीत का एक टुकड़ा प्रस्तुत है जिसमें सास की कृपणता और मां के खुले दिल की बड़े अछूते ढंग से तुलना की गई है। डोगरों के रिवाज के मुताबिक जब स्त्री बच्चे को जन्म देती है तो उसे सोंठ और सूखे मेवों से तैयार की गई "सुंड" यानी सोंठ-पंजीरी की सौगात भेजी जाती है। गीत की पंक्तियां देखिये—

ससड़िया मिगी सुंड भेजी चूह्‌डी सुंड भेजी,
चूह्‌डी खंड भेजी, नूएं रगड़ मत्थे कन्ने लायाँ ओ।
अम्बड़िया मिगी सुंड भेजी बट्टी सुंड भेजी,
बट्टी खंड भेजी, धीए बंड शरीकां खायाँ ओ॥

नानी मां ने दोहते के जन्म की खुशी में ढेर सी पंजीरी भेजी कि उसकी बेटी स्वयं भी खाए और दूसरों को भी खिलाए परन्तु सास ने केवल रस्म पूरी करने के लिए चुटकी भर सोंठ भेज दी मानो वह बहू के खाने के लिए नहीं, माथे पर टीका लगाने के लिए है।

————

—पैलेस रोड, जम्मू

दो कविताएं

—कुमार पुष्कर

आकाश बनाता हूँ

मैं आकाश बनाता हूँ
और उसमें सहेजता हूं धरती,
ठीक वैसे
जैसे रेत से खेलते बच्चे
मुट्ठी में बार-बार भरते हैं रेत,
अपनी टूटी टांगों को घसीटता
इन्तजार करता हूँ तुम्हारा
परन्तु तुम नहीं आते हो,
तब मेरी सोची हुई
हर बात की अन्तड़ियों में जंग
देसी शराब सा फैलता है।

यकायक मेरी आंखों के,
सारे कोमल पत्ते
तपती सड़क पर बिछ जाते हैं
तुम्हारा आना निश्चित है,
मैं जानता हूं,
मेरी हार का हर पल
तुम्हारे आने के समय में
कम होने वाला एक पल होता है,
इसलिए मैं फिर फिर
आकाश बनाता हूं
और उसमें सहेजता हूँ धरती।

——

हार

जुगनूं का पत्थर
बस्ती के बच्चों के झुंड में से
लहराता हुआ तेजी से
पहाड़ की ओर गया...
पहाड़ को पत्थर लगा या नहीं
बस्ती के बच्चे हैरान थे

क्योंकि पत्थर उनकी आंखों के सामने
कहीं नहीं गिरा—
उनकी भोली बुद्धि
इसे पहाड़ की हार मानती है !

——

उर्दू

ग़ज़ल

—केवल कृष्ण नैयर

थक गई कुचली हुई राहगुज़र, लौट चलें
अब तो शायद ही कोई आए इधर, लौट चलें।

दूर बजता हुआ लगता है गजर, लौट चलें
ऐसे हर बार बुलाता है सफ़र, लौट चलें।

कितनी ही मंज़िलें राहों में कहीं छूट गईं
यों तो चलना है अभी और, मगर लौट चलें।

कोई मुझ से मेरी आवाज़ में कहता सा लगे
एक मुद्दत हुई छोड़े हुए घर, लौट चलें।

ये तो बरसों से कभी जागे न होंगे शायद
धूल के शाल में लिपटे हुए पर, लौट चलें।

क्या मिला अंधी खलाओं में भटक कर तुझको
इस कदर अपनी ही मिट्टी से न डर, लौट चलें।

खूं में लिथड़ी हुई सहमी हुई रोई रोई
हमने ऐसी तो न मांगी थी सहर, लौट चलें।

जाने एहसास की यह कौन सी मंज़िल है जहां
खुद को कुछ मिलती नहीं अपनी खबर, लौट चलें।

———

कहानी

ज़ख्म

—अवतार कृष्ण राजदान

आज राधा को पल भर भी फुर्सत न थी। सुबह से ही वह मकान को साफ करने में लगी थी। उसने अलमारियों में किताबें करीने से रखीं, ड्राईंग रूम की खिड़कियों के शीशे साफ किये। दीवारों की धूल झड़वाकर सफेदी की और रंगारंग फूलों से भरे बगीचे से फालतू घास का एक-एक तिनका काट दिया।

सारा घर एकदम बदल गया। हर चीज़ नयी-नयी सी दिखने लगी।

रत्न यह सब देख रहा था। आश्चर्य भी उसको कुछ कम नहीं हुआ। शादी के बाद यह पहला अवसर था जब उसको महसूस हुआ था कि राधा उसके घर में जम गयी है। वैसे उसको यहां आये दो साल हो गये, तब से उसने कभी नहीं सोचा कि यह उसका अपना घर है। और हद तो यह कि इस कालावधि में उसने अपने कमरे में पति के साथ आठ-दस रातें ही गुज़ारी थीं। मन में आया, पूछे कि आज यह क्या हो रहा है। किन्तु बाद में सोचा कि उसका मूड खराब हो जाएगा। मजबूर होकर वह देखता रह गया।

हां, यह उसकी मजबूरी थी।

और इसी मजबूरी ने आज फिर उसको ड्राईंग रूम में लगे आदमकद आईने के सामने खड़ा कर दिया। वह ध्यान से अपना चेहरा देखने लगा। दूसरी ओर राधा ड्रेसिंग-टेबुल के सामने अपने को सजाने-संवारने में लगी थी।

'राधा ! आज क्या खास बात है ?' रत्न ने आखिर पूछ ही लिया।

'आज मेरा जन्म-दिन है।'—राधा का छोटा-सा उत्तर।

यह सुनकर रत्न को आश्चर्य हुआ। उसको इस बात का बिल्कुल पता न था। वैसे पिछले दो वर्षों से वह लगभग मायके में ही रही। इस घर में तो यह इसका पहला जन्म-दिवस था। फिर भी उसको इस बात का पता होना ही चाहिए था। राधा ने बुरा तो नहीं माना ?

'मुझे बिल्कुल पता न था'—रत्न ने कहा। 'कोई बात नहीं, अब भी समय है। मैं...'

'नहीं, नहीं, मुझे कुछ नहीं चाहिए'—राधा ने पति की बात काट कर कहा।

रत्न को लगा कि जैसे शिकारी ने उसके दिल में तीर चलाकर आहत कर दिया है। दूसरे ही क्षण राधा बोली—'उपहार देने की बजाय आप एक उपकार कीजिए।'

रत्न की आंखें चमक गयीं। अब की बार दिल की धड़कन तेज़ होने लगी—'बोलो, क्या काम है ?'

'शाम को आप कहीं न जाएं।'

'क्यों ?'

'वह आयेंगे, डिनर पर।'

'कौन ?'

"मोहन !"

रत्न को एक बार फिर आश्चर्य हुआ। कुछ क्षण कमरे में चुप्पी का सा वातावरण छाया रहा। राधा पति की ओर देखकर सब कुछ ताड़ गयी। बोली 'ऐसा मत समझिए कि इसमें कोई राज़ है। लड़कपन का दोस्त हैं न हमारा।'

'कोई बात नहीं'—रत्न ने कहा। अन्तस्तल में वेदना की जो आग धधक उठी, उसने उसे अन्दर ही अन्दर दबा दिया।



मोहन की प्रतीक्षा में बैठा रत्न न जाने कब से विचारों में उलझ गया था। फिर भी उसके लिए यह कोई नई बात नहीं थी।

अब भी उसको याद है वह दिन जब वह मोहन की शादी के सिलसिले में उसके घर गया था। वहां वह पहले यह निर्णय ही न कर पाया कि मोहन के साथ कैसे बात की जाये। गुमसुम सा दिख रहा था वह। उसके चेहरे पर परेशानी के आसार साफ दिखायी दे रहे थे। फिर भी उसने कहा था—'क्या बात है ?'

मोहन को लगा कि जैसे उसको किसी ने गहरी नींद से बेदार कर दिया हो। उसका सारा शरीर पसीने से तरबतर था। रत्न को देखकर उसकी आंखें छलक आयीं। बोला—'कुछ नहीं, बस, तुम मिले तो एक आस बंध गयी।'

'आखिर बात क्या है ?'—रत्न ने एक बार फिर अपना प्रश्न दोहराया।

'कुछ नहीं। तुमको शादी करनी पड़ेगी, तभी मैं इस उलझन से निकल सकता हूं।'—मोहन ने कहा।

रत्न को आश्चर्य हुआ। कहा—'क्या बकते हो ? तुमने क्या कभी सोचा भी है कि मुझसे कौन शादी करेगा !'

'मेरी वह···' मोहन ने जैसे रहस्य खोल दिया।

'राधा ?'—रत्न ने इस प्रकार कहा जैसे उसको विश्वास ही न आ रहा हो।

'हां, वही'—मोहन ने एक बार फिर ज़ोर देकर कहा।

'किसकी मर्ज़ी से।' रत्न ने पूछा।

'मेरी मर्ज़ी से।'—मोहन का उत्तर।

रत्न कुछ नहीं बोल पाया। सोचा, क्या कह रहा है वह! लड़की की मर्ज़ी जाने बिना वह कैसे इस बन्धन में बन्ध सकता है! तिस पर भी वह मोहन को ही चाहती है।

लेकिन वही हुआ जो मोहन ने कहा था। राधा ने मोहन की मर्ज़ी के आगे समर्पण किया। क्यों? उस समय रत्न यह सब जान नहीं पाया।

यह शादी एक तरह का समर्पण था। अपने अरमानों का बलिदान मात्र! इन दो वर्षों में रत्न को अपनी पत्नी से जिस आत्मीयता की अपेक्षा थी, वह उसे नहीं मिली। वह हर पल उसके प्यार के लिए तरसता रहा। तिस पर भी राधा अपने पति से हमेशा दूर-दूर एवं निर्लिप्त-सी होती चली गई थी।

वह हमेशा बेकरार-सा होता रहता। खास कर उस समय जब राधा उसके घर में होती और उसकी ओर आंख उठाकर भी न देखती। अपनी ओर से उसने उसके निकट आने के कई तरीके आज़मा लिये, किन्तु सब व्यर्थ। उपाय जब बेकार सिद्ध हो जाए तो अपने-आपको झूठी तसल्ली देकर ही संतुष्टी मिलती है। रत्न भी यही सोचता कि क्या पता राधा एक दिन उसके बहुत निकट आकर, अपने और उसके बीच की खाई को पाट कर, उसके गले लग जाएगी और खूब आंसू बहाकर कहेगी कि उसका सारा विगत व्यर्थ हो गया।

...यह सपना है उसके अन्तर्मन का।

●

शाम के आठ बजे मोहन आ गया। ड्राइंग रूम में ज्यों ही उसने रत्न को देखा तो वह बहुत खुश हुआ। वैसे दो साल हुए थे दोनों को एक-दूसरे को मिले।

'हैलो रत्न! क्या हाल है?'

'मज़े में हूं। आप सुनाइये?'—रत्न का उत्तर।

'अजीब इतफाक है। परसों राधा हब्बाकदल चौक पर मिली और डिनर पर आने के लिए कहा।'

अजीब इतफाक!

'इतफाक नहीं। मैंने ही राधा को कहा था कि आज वह आपको डिनर पर बुलाये'—रत्न ने कहा।

'वंडरफुल! मगर मेरी सुनीता तो जो मन में आये, करती है। मुझसे सलाह लेने का सवाल ही पैदा नहीं होता।'

'पत्नी के लिए पति परमेश्वर समान होता है, यह सब राधा अच्छी तरह जानती है'—रत्न ने फीकी हंसी के साथ कहा।

'आपकी पत्नी एक आदर्श नारी है'!

'और आपकी पत्नी अपनी इच्छाओं की दासी है।'

दरवाज़े के एक तरफ खड़ी राधा दोनों की बातों को ध्यान से सुन रही थी। अपनी प्रशंसा के दो शब्द सुनकर वह अपने-आप पर जितना खुश हुई, उतनी ही नाराज़ भी। नाराज़

इसलिए कि प्रशंसा के पुल उसका पति बांधता था। क्या पड़ी है उसको ये सब बातें कहने की जबकि ये सत्य से कोसों दूर हैं। एक और बात उसको लग गयी, वह यह कि मोहन के लिए वह बेतहाशा इन्तज़ार कर रही थी और वह यहां आकर अपनी पत्नी के बारे में बतिया रहा था। निराश हो, वह कमरे में चली आयी—

'हैलो मोहन !'—राधा ने होंठों पर फीकी हंसी लाकर कहा।

राधा को देखकर पहले मोहन चौंक-सा गया। कुछ क्षण बाद कहा—हैलो !

राधा फर्श पर बैठ गयी। रत्न आंखें फाड़कर पत्नी की ओर देखता रहा क्योंकि इस समय उसने अपने साज-सिंगार में कोई कमी नहीं रहने दी थी। पत्नी की सुन्दरता ने आज पहली बार रत्न को चकाचौंध कर डाला। इसके विपरीत मोहन ने राधा की इस सजधज में कोई दिलचस्पी नहीं ली। राधा को आश्चर्य हुआ। वह मोहन की ओर एकटक देखती रही, मगर उसने अपना सिर नीचे झुका लिया। कमरे में चुप्पी का सा वातावरण उत्पन्न हो गया। कुछ क्षण बाद मोहन ने कहा—'कल मुझे सुनीता के लिए सफेद साड़ी लानी है।'

'रंगीन क्यों नहीं ?—रत्न ने पूछा।

'उसको बनाव-सिंगार बिल्कुल पसंद नहीं। सफेद साड़ी उसकी अपनी चॉयस है।'

'मगर मेरी राधा अपने को सजाने-संवारने में खूब दिलचस्पी लेती है। अपने लिए नहीं, मेरे लिए। पत्नी का बनाव-सिंगार पति के प्रति उसके अनन्य प्रेम का द्योतक माना जाता है। इस सिलसिले में यदि पत्नी अपनी चॉयस से काम ले तो मानिए, वह किसी दूसरे को रिझाती है।'—रत्न ने कहा।

यह सुनकर राधा के तन-बदन में आग सी लग गयी। मोहन निरुत्तर रहा।

'देखो न, सामने बैठी है राधा। किस तरह सजी-संवरी है ! यह तो इस समय की बात नहीं। आप इसको हर समय इसी तरह पाओगे। यह मेरी चॉयस है। मैंने इसको कह दिया है कि मैं थोड़ा बदसूरत ही सही, मगर तुमको अपनी सुन्दरता की कद्र करनी चाहिए'—रत्न ने कहा।

मोहन विचारों में डूब गया।

राधा नीरस पड़ने लगी।

'मोहन ! कैसे थे वे दिन जब हम एक-साथ कालिज में पढ़ते थे। वह अहरबल की पिकनिक ! पहलगांव में दो-एक दिन घूमना !—प्रसंग बदलने के खयाल से राधा ने कहा।

'हां, हां, याद है'—मोहन ने इस तरह कहा जैसे राधा से कोई जुर्म हो गया हो।

'हां, मुझे भी याद है—गुलमर्ग में···' रत्न ने बीच में ही कहा।

'उस पिकनिक में सुनीता भी आयी थी। हम दोनों ने वहां खूब स्कीइंग की थी'—मोहन ने कहा।

राधा बिल्कुल मौन !

'अरे अब याद आया। उस समय राधा भी स्कीइंग करना चाहती थी, किन्तु आपने अकेले उस सुनसान में इसको छोड़ दिया और सुनीता का हाथ पकड़ लिया।'—रत्न ने याद करते हुए कहा।

'मैं कब सुनीता को जानता था? राधा ने ही उसके साथ परिचय कराया था। मुझे देखकर न जाने वह क्यों इंप्रेस हो गयी!'—मोहन ने कहा।

●

यह सुनकर सच ही राधा का दिल धक्-धक् करने लगा। उसका विगत आंखों में चित्रपट की तरह घूमने लगा। यौवन की पहली सीढ़ी पर चढ़कर ही किस प्रकार मोहन उसकी ताक में लगा रहा। बाद में दोनों इतने निकट आ गये कि दोस्ती प्रणय में परिणत हो गयी। दोनों ने एक-दूसरे के साथ शादी करने की कसम ले ली। एक-दूसरे की चाह इतनी बढ़ने लगी कि मोहन को इस बात का ध्यान ही न आया कि राधा का पिता चपरासी है। मुश्किल से पेट पालता है। किन्तु राधा जानती थी कि प्रणय-लीला में इन बातों का कोई महत्व नहीं। मगर गुलमर्ग में ज्यों ही मोहन सुनीता से मिला तो…कुछ भी नहीं हुआ। लेकिन उस अनुभूति को वह दिल में ही संजोये हुए थी। मोहन कुछ क्षण के लिए सोचता रहा। फिर बोला—'मैंने कभी किसी के साथ बदी नहीं की है। नेकी तो सबों के साथ करता हूं। और दिल की धड़कन तो उस वक्त बढ़ती है जब सुनीता को गुस्सा आता है।'

'मगर राधा को कभी गुस्सा नहीं आता। उसकी सहनशीलता पर मुझे गर्व है'—रत्न ने राधा की ओर देखकर कहा।

राधा की आंखें अब भी फर्श पर टिकी हुई थीं। उसको वे दिन याद आये जब मोहन राधा से दूर भागकर सुनीता के निकट आने लगा था। धनी पिता की बेटी होने के कारण शादी होने में भी देरी नहीं हुई थी।

'यदि आपने शादी की तो मुझ पर पहाड़ टूट पड़ेगा और मैं उन मधुर भावनाओं को भूलने की चेष्टा कभी नहीं कर पाऊंगी'—राधा ने कहा था।

'ठीक है, मगर तुमको भी विवाह करना पड़ेगा'—मोहन ने कहा था।

'मुझसे कौन विवाह करेगा'—राधा का प्रश्न।

'एक को मैंने तैयार कर रखा है।'—मोहन ने कहा।

'कौन?'—राधा ने पूछा।

'रत्न'—मोहन ने इस तरह कहा जैसे कोई रहस्य खोल दिया हो।

'किसकी मर्ज़ी से?'

'मेरी!'—मोहन का स्वर आत्मीयता से लबरेज़ था।

इस एक वाक्य को सुनकर उस समय राधा कुछ न कह पायी थी। उसने मोहन के हर आदेश का पालन किया था। वास्तव में वह शादी को एक शारीरिक बंधन मानती थी। किन्तु आज उसकी आंखें खुल गयीं। उसने जाना कि मोहन उसके साथ कुछ इस तरह का व्यवहार कर रहा है कि जैसे उसको जानता ही नहीं। क्या वह उन मधुर भावनाओं को भूलने

की चेष्टा करता है ! उसके लिए वह तड़पता था, उसके सपने देखता था और आज वही अपने विगत पर पर्दा डालता है। वह तो कितना बदल गया है…और सुनीता—चपटी नाक वाली छोकरी ! छोटी और मोटी। आज यह बात-बात पर उसी के नाम की रट लगा रहा है ! फिर भी उसने अपने को संयम में रखा। उसने सोचा कि अब उसको बोलना चाहिए—

'मोहन, क्या आपको याद है कि हम कैसे मिले थे ?'

राधा को अब भी विश्वास नहीं हो पा रहा था कि मोहन विगत को भूल जाना चाहते हैं।

मोहन उसको देखता ही रह गया। कुछ बोल नहीं पाया।

'नहीं, नहीं, मैं नहीं मानती। मैं आपको याद दिलाये देती हूं'—राधा बोली।

'याद दिलाने की कोई आवश्यकता नहीं। दरअसल सुनीता कहती है कि सहारे के रूप में जिसने जो भी पाया, वही सत्य है'—मोहन ने बात को काटकर कहा।

'छिः-छिः, आपकी पत्नी के भी कैसे विचार हैं। मेरी राधा सत्य उसी को मानती है जो सत्य की कसौटी पर सही उतरे'—रत्न बीच में बोला।

मोहन बिल्कुल मौन ! उसने आंखें इस तरह झुका लीं कि जैसे कुछ सुना ही नहीं।

इस बार राधा से रहा न गया। उसको बहुत गुस्सा आया मोहन पर। उनके साथ मन में संजोये सपने एक के बाद एक पिघलने लगे।

रत्न राधा की ओर देखता रहा किन्तु राधा अपनी सहनशीलता खो बैठी। उसकी समझ में कुछ नहीं आया कि उनकी दृष्टि अपनी ओर किस प्रकार आकृष्ट की जाये। ठीक उसी वक्त नौकर ने अन्दर आकर सूचना दी कि खाना तैयार है। राधा को कुछ त ल्ली-सी हो गयी।

जब तक वे खाने की मेज़ पर आ गये तब तक दोनों अपनी-अपनी पत्नियों की प्रशंसा के पुल बांधने में लगे रहे। इस बीच राधा को लगा कि वह निश्चय ही कल्पना लोक में विचरण कर रही है और वह यथार्थ की धरती से ऊपर उठकर न जाने स्वप्नलोक के किस भाग में जाकर बसना चाह रही थी।

'सुनीता को मिर्च बहुत पसंद है।'

राधा के विचारों का तांता टूट गया।

'राधा को मिर्च से नफरत है। वह वही चीज़ खाती है जिसमें मिठास हो। सुन्दरता में मिठास, काम करने में मिठास, बोलने में मिठास…'

'यही एक कमी रह गयी है सुनीता में। दफ्तर से अगर लेट आता हूं तो हंगामा मचाती है।'

'मेरी राधा तो ऐसी नहीं है।'

'सुनीता मेरी प्रतीक्षा दस बजे रात के बाद करती है। यानी…यानी…देश की जनसंख्या !'

'नहीं, मैंने इसको कभी वासना की मूर्ति नहीं समझा और न इसने मुझे आत्मतुष्टी का देव। आजकल ऐसी बातें दोनों की मर्ज़ी पर निर्भर करती हैं।'

'वंडरफुल ! क्या कहने ।'

'दरअसल यह एक आदर्श है ।'

'किसका ?'

'राधा का । और इसका पालन करना मेरी मजबूरी नहीं, कर्त्तव्य-सा बन गया है ।'

●

राधा फर्श पर बैठी यह सब सुन रही थी । उसकी आंखों से आंसू उमड़े पड़ रहे थे। फिर भी, जब तक भोजन समाप्त न हुआ, वह संयम में रही ।

'शुक्रिया राधा ! अब मैं चलता हूं'—यह कहकर मोहन एकदम उठ गये ।

राधा कुछ न बोल पायी । उसने सिर झुका लिया ।

पत्नी की दशा को देखकर रत्न सब कुछ ताड़ गया । उसने झट मोहन की ओर देखकर कहा—'शुक्रिया, शुक्रिया, कभी-कभी यहां ज़रूर आते रहना । राधा को न सही, मुझे तो आपकी याद आती है । कालिज के दोस्त ठहरे न । तिस पर भी यह भोली राधा तो मुझे आपकी ही देन है ।'

मोहन ड्राईंग रूम से बाहर निकल गया पर उसने 'गुडनाइट' भी नहीं कहा ।

ज्योंही मोहन चला गया तो राधा ने रत्न की ओर देखा । उसकी आंखों से आंसू छलक रहे थे ।

रत्न की आंखें फर्श पर टिकी हुई थीं । उसने राधा को यह अहसास दिया कि जैसे उसको कुछ समझ में ही न आया हो । किन्तु राधा ने उसकी ओर बार-बार देखा । वह अपने को थकी-हारी सी महसूस कर रही थी । अपना अश्रुवेग वह रोक ही नहीं पा रही थी क्योंकि हृदय में जो सपनों का महल बना चुकी थी, उसकी बुनियाद आखिर कच्ची निकली थी ।

'मुझसे अब सहा नहीं जा सकता ।'

'क्यों ? क्या बात है ? इतनी उदास ?'

'मुझे क्षमा करो । मेरे दिल में अब तुम्हारा अस्तित्व सपना नहीं, बल्कि सत्य की कसौटी पर पूरा उतरा है ।'

'मगर तुम मोहन की राधा हो न ?'

'अब नहीं हूं ।'

'क्यों ?'

'क्योंकि अब मोहन के दिल में रुक्मिणी पूरी तरह बस गयी है । राधा कब तक इन्तिजार करेगी ?'

रत्न ने राधा की ओर आश्चर्य मिश्रित निगाहों से देखा । उसने कुछ नहीं कहा। राधा भी एकटक उसकी ओर देखती रही । दोनों की आंखें टकरा गयीं , रत्न ने सोचा कि यह क्षण मधुर अनुभूति अनुभव करने के लिए हैं । इसी से उसका मानसिक ज़ख्म भर सकता है । उसके बारे में आदि से अंत तक पूछताछ करने से क्या लाभ !

—

— ८३, पुरुषयार हब्बाकदल, श्रीनगर (कश्मीर)

रेखाचित्र

तवी

—जसवन्त सिंह 'विरदी'

तवी नदी पीरपंजाल और धौलीधार के बीच के पहाड़ी मार्ग से निकल कर जम्मू शहर की ओर इस तरह चलती है, जैसे कोई गोरी सम्भल-सम्भल कर पांव उठाती हुई बड़ी मड़क-मजाज़ के साथ अपने महबूब की तरफ बढ़ रही हो। इसके चमकते पानी की धारा को यदि जम्मू से ऊपर पहाड़ियों के पास खड़े होकर देखा जाए, तो कुछ क्षणों के जादुई प्रभाव के साथ एक सुन्दरी के चेहरे और चाल-ढाल का प्रभाव उसमें स्पष्ट तौर पर दीखने लगता है।

उस दिन मुझ पर भी इसी तरह का ही जादू हो गया था। तवी के पानी के इर्दगिर्द बसा हुआ जम्मू शहर सायंकाल की रौशनी से चमक रहा था और मुझे उस समय मोहन सिंह की कविता याद आ रही थी—

तवी वगदी, तवी वगदी
इस जंमूए दे पैरां नाल वे
तवी वगदी।
मिट्ठी लगदी सोहणी लगदी
एहदी सुत-उनींदरी जिही चाल वे
मिट्ठी लगदी।

मोहनसिंह मन की गहराइयों का महान् कवि था, पर उसके गीतों में बीती मुहब्बत का, शहद जैसा ही स्वाद है। मोहनसिंह ने अपनी कविता में जिस तरह तवी के 'इमेज' को साकार किया है, वह कोई मोहनसिंह ही कर सकता है।

बहुत समय पहले जब जम्मू के समीप पुल के ऊपर निर्माण का कार्य हो रहा था, तो मैं दो बार छुट्टियों में अपने पिता जी को मिलने के लिए यहां आया था। मेरे लिए वह मस्ती और बेपरवाही के दिन होते थे, और वापिसी पर मेरी भी इसी तरह की हालत हो जाती थी—

दिल तुरे ना, दिल तुरे ना।
गड्डी नस्स पई तिखड़ी चाल वे,
दिल तुरे ना।
तवी लुक गई, मंदर लुक गए
मुड़ शहराँ दे जाल जंजाल वे।
तवी लुक गई।

तवी के पानी की चाल अक्सर बड़ी धीमी होती है, जैसे कि पहाड़िए लोग सुस्त चाल चलते नज़र आते हैं, पर वह हकीकत में सुस्त नहीं होते। तवी की चाल-ढाल पहाड़ी लोगों जैसी ही है।

असल में तवी का बहना लोगों जैसा ही है। कभी नम्रता वाला, और कभी रोष-भरा।

सम्पन्न व घमण्डी व्यक्ति बुरा और तबाह-कुन प्रभाव वाला भी बन जाता है। इसी तरह ही तवी भी बरसाती मौसम में पूरे रोष के साथ टेढ़ी-मेढ़ी चाल से दौड़ती है और किसी भी सगे-सम्बन्धी की प्रवाह नहीं करती।

मेरा मित्र खालिद हुसैन मुझे स्कैण्डल प्वायण्ट पर खड़ा करके आप महबूबा के साथ पता नहीं किधर चला गया था। हमारे इन नौजवान लेखकों की यह बड़ी बुरी आदत है कि जब १५-२० कहानियां लिख लेते हैं, तो फिर सांस चढ़ा कर बैठ जाते हैं।

'भई और क्यों नहीं लिखते ?'

'प्रेरणा नहीं रही।'

'फिर इश्क करो।'

'सोच रहा हूं।'

'इश्क भी सोच-समझ कर होता है ?'

'हां, आजकल तो··· ?'

बस, कई बार तो इश्क ही होता है, पर कहानियां बिसर जाती हैं। पर मेरा मित्र खालिद एक अलग स्वभाव का, बल्कि अपवाद ही है।

मेरे पिछली तरफ दाहिने हाथ पीरपंजाल और बाईं तरफ धौलिधार चोटियां बरफीली आंखों के साथ चमक रही थीं, और उनके बीच में थिरकती तवी, जैसे कोई रूपहली रेखा हो।

पिछले वर्ष कुलबीरसिंह कांग भी मुझे तवी की धारा के पास ही मिला था। उसके तन-मन में तवी की शगुफता धारा की तरह ही ललित निबन्ध प्रकाशित हो रहे थे। जसवन्तसिंह राही के बार-बार कहने पर भी मैं उसके साथ यहां नहीं आया था। यहां उसकी लड़की निवास करती है। लड़कियों के घर खाली हाथ बंदा कैसे जावे ? ···पर अब मुझे तवी ने बुलाया तो कैसे इन्कार करता ?

मैं तवी के पानी की तरफ देखकर डॉ० हरिभजन सिंह की कविता मुनव्वर तवी याद करने का यत्न कर रहा था, पर पता नहीं कैसे, उसके शब्द मेरे मस्तिष्क में से ही निकल गए। डॉ० हरिभजन सिंह गीत लिखने में वड़ा माहिर है, पर उसकी कविता, उसकी विद्वत्ता की तरह ही गहरी गम्भीर बन जाती है, जैसे कि वह कविता नहीं लिख रहा, अपितु कोई थीसिस पेश कर रहा हो। ...कहते हैं कि यह नदी-मुनव्वर वाली तवी और ठण्डे पानी वाली तवी की संयुक्त धारा के समरस होने के साथ रूप धारण करती है।

कल जब हम जम्मू से बिलकुल और भी ऊपर की तरफ पूर्व की ओर खड़े थे, तो मुझे लग रहा था, जैसे कि तवी ने समूचे शहर को अपनी बाहों में जकड़ा हुआ हो। इसका पानी जम्मू के ऊपर उत्तर-पूर्व की ओर इकट्ठा होकर ऊधमपुर के दून के पास से पलट कर इस शहर की ओर घूम जाता है।

अपनी महबूबा की बाहों से निकल कर खालिद जब मेरे पास पहुंचा, तो मैं तवी के रेंगते पानी के समीप खड़ा हुआ तरोताज़ा हो गया महसूस कर रहा था।

'छोड़ आया है...अपनी...?'

'हां,' उसने मुस्करा कर कहा—

'यदि पंजाबियों ने झनां (चन्द्रभागा) को अपनी मुहब्बत का केन्द्र बनाया हुआ है, तो हमने, जम्मू के लोगों ने तवी को...।'

'इसका मतलब है कि जम्मू में भी आशिक... ?'

'कहां नहीं होते ?'

'किसी एक का नाम बताओ।'

वह सोच में पड़ गया।

अभी हम बातें ही कर रहे थे, जबकि हमारे समीप ही, जम्मू की सुन्दरियां तवी के किनारे बैठी गा रही थीं—

'तविआ कण्डे गोरी बाग लुआया।
मेरा फुल रुपये बिकेआ वे लोका।'

'सुन !' मैंने कहा। खालिद औरतों के चेहरे पहचान रहा था।

'देस छोड़ी परदेस नि जाइयां
मेरी निरमल काया तरसी वे लोका।'

एक और आवाज़—

'तविआ कण्डे गोरी पलंग डुहाइआ।
मेरी सेज रुपये बिकदी वे लोका।।'

'हमारे बहुत प्यारे गीत विरह वियोग को प्रकट करने वाले ही हैं।' खालिद ने कहा।

'विरह हमारे मन को शुद्ध करके उसमें सात्विक भावों का संचार करता है।'

'मुहब्बत की परख भी तो विरह के साथ ही होती है।'

'पर यदि मुहब्बत हो।'

'हां, यह तो है ही··· ।'

'कई बार विरह के प्रभाव के साथ भी मुहब्बत का रंग 'मजीठिया' जाता है।'

जम्मू शहर के मुनारे और मंदिरों के ऊंचे-ऊंचे कलश सायंकाल की धुंध में लिपटे हुए बड़े ही रहस्यवादी प्रतीत हो रहे थे। रोशनी की धुंधलाहट हर तरफ फैल कर अन्धेरे को चीरने का असफल प्रयास कर रही थी।

'वह औरतें कौन थीं ?'

'जिनके पति परदेसी हैं।'

'जम्मू के बहुत-से लोग फौज में ही जाते हैं ?'

'पर अब देश के और शहरों में भी नौकरी के लिए जाने लग पड़े हैं।'

'कुछ भी हो, तुम्हारी औरतों को तवी के पानी ने खूब निखारा है।'

'तवी में भी तो इन औरतों का हुसन ही झलकता है।'

'पतले और तीखे नैन-नक्श वाली डोगरी स्त्रियों के हुस्न की दुनिया में बड़ी तारीफ है।'

'धीरे से बोल।' खालिद ने मुझे टोका।

'क्यों ?'

'क्योंकि यदि यहां की औरतों ने तेरी बात सुन ली, तो मर्दों के लिए जीना हराम हो जायेगा।'

'क्या अब वह सुख के साथ जी रहे हैं ?'

'मेरा ख्याल है।'

'ख्याल ही क्यों ?'

'क्योंकि मैं यहां गर्मियों में ही आता हूं। सरकारी कागज़ात के साथ ही··· ।'

'मुझे तो लगता है कि तवी जम्मू वालों के दिलों में भी धड़कती है। ···जब नदी लोकगीतों की आत्मा में रच-पच जाती है, तो वह केवल नदी ही नहीं रहती।'

'हां, यह ठीक है।'

'गलत है, तो कह दो।'

'नहीं, अपितु मैं तो समझता हूं कि तवी के बिना जम्मू की कल्पना ही नहीं की जा सकती।'

'तभी शायद इस शहर को भी जम्मू-तवी कहा जाता है।'

'हां।'

तवी के पानी में से एक तेज़ लहर हमारी तरफ बढ़ती आ रही थी, जिस कारण हम खामोश हो गए।

कई साल पहले डोगरी भाषा के लोकगीत इकट्ठे करते समय मुझे 'चन्न' नाम का जो गीत मिला था, उसमें भी तवी हिलोरें मारती थी—

चन्न म्हाड़ा चढ़िआ उप्पर जे बाह्वे,
किआं करी आमां चन्नां तवी ठाठां मारे ।

× × ×

चन्न महाड़ा चढ़ेआ नदिया दे पार ओ,
कोदे हत्थ भेजां चन्नां, छतड़ी रूमाल ओ ॥

जम्मू के लोगों जैसी ही उनकी डोगरी भाषा है, मासूमियत भरी, पर पूरी शान-शौकत वाली दिली भावों के साथ भरपूर । दिली भावों की रंगत के बिना भाषा निखर ही कैसे सकती है ।

जब मैं अभी जम्मू नहीं आया था, तो खालिद ने एक खत में मुझे तवी के विषय में लिखा था—

'दरिया तवी कैलाश पर्वत से निकलता है । भद्रवाह से आगे, सिउजधार में से ।'

'यह पर्वत जम्मू-कश्मीर के ज़िला डोडा की तहसील भद्रवाह और हिमाचल प्रदेश के इलाके चम्बा के बीच वाकिया है । कैलाश पर्वत में से तीन छोटे दरिया या नदियां निकलती हैं ।'

'दरिया तवी, जो डोडा से बसंतगढ़ (तहसील रामनगर, ज़िला ऊधमपुर) चनैहनी, (ज़िला ऊधमपुर) ऊधमपुर, नगरोटा से जम्मू होते हुए सियालकोट के समीप चिनाब में जा मिलती है ।'

'तवी जैसे यहां और भी तो दरिया होंगे ।'

'हां, नीरू भद्रवाह में बहती हुई डोडा के पास दरिया चिनाब में मिल जाती है ।'

'और ?'

'दरिया उझ, बलावर के पहाड़ों में से निकलता हुआ कठूआ आता है, पर बाद में दरिया रावी में मिल जाता है ।'

'तवी की लम्बाई ?'

'काफी है ।'

'फिर भी ?'

'नापी नहीं किसी ने । अभी यह काम होने वाला है ।'

पल भर के पश्चात् उसने फिर कहा— कैलाश पर्वत की चार चोटियां हैं, जिनमें एक बड़ी झील भी है ।'

'तुमने वह झील देखी है ?'

'अभी नहीं ।'

'हूं ! तेरी महबूबा अब तक घर पहुंच गई होगी ?'

'तुम्हें उसका ख्याल कैसे आया ?'

'झील करके । बीवी और झील में काफी एकता नजर आती है''' पर मुझे तो तेरी महबूबा भी झील जैसी ही '

खालिद हंस पड़ा ।

'तुम उसे मेरी बीवी ही समझो ।'

'झूठ ना बोलना ।'

'नहीं सच ।'

'फिर तू खुशकिस्मत है ।'

'कैसे ?'

'वह तुम्हें दोहरी मुहब्बत दे रही है ।'

'हाँ, यह तो है ही ·· ।'

'बस यही नियामत इस धरती पर दुर्लभ है ।'

खालिद खुश हो गया । मुझे लगा जैसे कि उसका कद-बुत्त भी और लम्बा हो गया है । खालिद ने कहा—'लो मैं तुम्हें तवी के आर-पार खड़े प्रेमियों के सम्वाद सुनाता हूं—

सौण महीने बरखा बरदी
तविग्रा पौंदे हाड़ सजनां
ग्रो तवी देआ तारुआ
सानूं टपाइआं पार ।

जुलफां कटानिआं रस्सा बनानिआं
बाहमें दे लानीआं बांस
ओ तवी देआ तारुआ
बाहमें दे लानीआं बांस

छाती चरानी आं वेड़ी बनानी ग्रां
झट पुज्जी जानी पार
ग्रो तवी दे तारुआ

अज्जे दी गतीं गैह साड़ी नगरी
कल टप्पां गे पार गोरिए
कल टप्पां गे पार ।

'वाह वाह !' मैंने कहा ।

'किस बात के लिए ?'

'इस गीत की मुहब्बत के लिए ।'

'फिर तो ठीक है ।'

शाम ने ढल कर रात का रूप धारण कर लिया था । शहर की रौशनियां और भी दिलकश प्रतीत होने लग पड़ी थीं । खालिद का घर यहां शहर से दूर, झील के समीप था, पर मेरा परममित्र प्रो० दिलजीत सिंह मेरी प्रतीक्षा कर रहा था । मैं उसे हर बार की तरह निराश नहीं करना चाहता था ।

तवी नदी के जन्म और सफर के सम्बन्ध में मुझे खालिद ही बता सकता था, इस करके मैं खालिद को सैक्रेटेरिएट से, उसके दफ्तर से उठा लाया था। दिलजीत सिंह तो कोर्स की किताबों के साथ मत्था मार कर ही खुश है, तवी के जलवे की तरफ उसका अधिक ध्यान नहीं जाता।

मैंने खालिद को कहा— 'हम प्रो० दिलजीत के पास चलते हैं। फिर हम तुम्हें घर छोड़ आयेंगे।' '

तुम दोनों भी तो मेरे घर में रह सकते हो। मेरे दिल में बड़ी जगह है...' खालिद ने कहा। और मेरे साथ तवी के पानी के साथ-साथ दिलजीत के घर की तरफ चल पड़ा।

मार्ग में हमने आपस में कोई बातचीत नहीं की। हमारी गुफतगू केवल तवी के साथ ही थी।

———

—१४०, सुखजीत नगर,
कपूरथला, पंजाब

विशेष लेख

आधुनिक बोध और हिन्दी आलोचना

—डॉ० विनय

आधुनिकता बोध और हिन्दी आलोचना विषय के विवेचन-स्पष्टीक ण के दो सूत्र हो सकते हैं। एक तो आलोचक की आलोचना-दृष्टि में आधुनिकता बोध की खोज अर्थात् उसके मानदण्ड किस रूप में आधुनिक बोध की धारणा से संचालित-नियंत्रित हैं। दूसरे परम्परागत आलोचना पद्धति (संस्कृत काव्यशास्त्रीय, रस-अलंकारवादी पद्धति) से विच्छेद और आधुनिक वैचारिक अनुशासनों—मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद तथा अस्तित्ववाद से ग्रहीत समीक्षा के मानदण्ड ! हमारे विचार में यह देखना अधिक प्रासंगिक और समीचीन होगा कि आधुनिक हिन्दी आलोचना ने नए वैचारिक अनुशासनों के प्रति क्या रवैया रक्खा और वह कितनी सीमा में सर्जनात्मक क्षमता के साथ अपने आप को जोड़ पायी। इस विषय के विस्तार को रूपायित करने के लिए हमारे सामने हमारा समाज (जिसमें रचनाकार विद्यमान है) उसकी रचना (जो समाज की वर्तमानता का अतिक्रमण कर कभी अतीत और कभी भविष्य में संचरित होती है) तथा रचना-परीक्षण की विधि आलोचना (जो इन दोनों से अपना मूलरूप निर्मित करती है)... तीन घटक हैं। इन तीनों घटकों का आधुनिक बोध सामान्यतः समानान्तर रूप लेता है। कभी-कभी उसमें व्यतिक्रम की सम्भावना भी रहती है।

हमारे सामने व्यावहारिक सूत्र को समझने के लिए सैद्धान्तिक सूत्रों को जानना आवश्यक हो जाता है। इस पूरी विवेचना में आधुनिकता, आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण तीन बातों पर विचार आवश्यक है आधुनिकता के विषय में जितनी भी धारणाएं व्यक्त की गई हैं उनमें एक बात सबने स्वीकार की है कि आधुनिकता एक विशिष्ट दृष्टिकोण है या एक ऐसी विचार पद्धति जो मध्ययुगीन विचार पद्धति से भिन्न ऐतिहासिक चेतना से सम्पन्न नई दृष्टि से, सोचने समझने और अपने समय को व्याख्यायित करने की धारक है। दूसरे शब्दों में यह एक ऐसी जीवन दृष्टि है जिसमें परम्परा से विच्छेद के कई सूत्र विद्यमान हैं। आधुनिकता का सही रूप देशकाल के साथ जीवंत और सचेतन सम्बन्ध में रूपायित होता है। हम चाहें तो यहां से शुरू कर सकते हैं कि जहां से मनुष्य ने अपने काल के प्रति अधिक सचेतनता दिखलाई वहीं से

वह आधुनिक हुआ। अथवा यह कहा जा सकता है कि जो परम्परागत नहीं है वह आधुनिक है लेकिन इतने मात्र से आधुनिकता का रूप स्पष्ट नहीं होता। आधुनिकता एक विचार विधि, एक व्यवस्था की समग्र धारणा, एक चिंतन पद्धति 'एक वृत्ति अथवा मूल्य चक्र से अभिहित होती है' (र० कु० मेघ) अर्थात् वह एक ऐसी विचार-विधि है जो व्यवस्था को समग्रता देती है। हमारे विचार में यह समग्रता समय के प्रति जीवंत इतिहास बोध से आती है।

आधुनिकता परम्परा में विच्छेद से होती है। परम्परा में विच्छेद से जो विचारशील मानसिकता, आचरण-शीलता सामाजिक यथार्थ की सही पहचान कराती है वही सही आधुनिकता है। लगभग चार सौ वर्ष पहले के कबीर आज भी आधुनिक लगते हैं क्योंकि उन्होने अपने समय में पहले के निश्चित सामाजिक सम्बन्धों को न केवल प्रश्नाकुल होकर देखा था, अपितु विद्रोह के स्वर में सामाजिक परिवर्तन की नवता को भी रेखांकित करने की सर्जनात्मक कोशिश की थी। अतः आधुनिकता एक ऐसी अवधारणा और प्रक्रिया है जिसके तहत सर्जक-चिन्तक पुराने का विश्लेषण करता हुआ उसे अपने वर्तमान के प्रसंग में जांचता है और भविष्य का रूपायन भी करता है। इस पूरी प्रक्रिया में कालबद्धता समाप्त हो जाती है। जो लोग केवल वर्तमान में रहने को आधुनिकता कहते हैं वे लोग इतिहास की शक्तियों को नहीं पहचानते, जिस पहचान के अभाव में भविष्य की दृष्टि पाना लगभग असम्भव हो जाता है। सही आधुनिकता प्रश्नों और द्वन्द्वों के बीच रूपायित होती है। इससे इतिहास के धारा-प्रवाह रूप से उन बिन्दुओं को जान लेना सरल हो जाता है जिन पर व्यर्थता बोध के स्थान पर मानवीय संघर्ष और शून्यता के स्थान पर मानव जिजीविषा ने चरण रखकर अपनी अद्वितीयता सिद्ध की। क्योंकि यह तै है कि एक परम्परागत समाज भी आधुनिक हो सकता है। और जब हम परम्परागत समाज में भी (इंग्लैंड) आधुनिकता पाते हैं तो निश्चित रूप से मानना होगा कि परम्परा से कट कर ही आधुनिक नहीं हुआ जा सकता।

हमें साहित्य के संदर्भ में आधुनिकता की बात करते हुए अपने समाज की बहुमुखी संरचना को भी ध्यान में रखना होगा। जब समाज अनेकमुखी है, अभी भी धर्मावलम्बी है, तो सही आधुनिकता की अवधारणा धार्मिकता को धर्म निरपेक्षता में बदलने और अनेकमुखता के समन्वित रूप को रूपायित करने में ही स्पष्ट हो सकती है। यह समन्वय मनोविज्ञान, दर्शन और सस्कृति के साथ अर्थशास्त्र और समाज व्यवस्था के समन्वय की भी मांग करता है। कम से कम वर्तमान के सही प्रारूप को आधुनिक बनाने में मानव-अविरोधी, समाज व्यवस्था और शोषण मुक्त आर्थिक आधार अवश्य देना होगा। इसके अभाव में आधुनिकता की बात करना पहाड़ी पेड़ को मैदान में फलता-फूलता देखने की गलती करना होगा।

प्रश्न जीवन में महत्वपूर्ण होता है, साहित्य में भी ; किन्तु प्रश्न को केवल प्रश्न के रूप में छोड़ना स्थिति से पलायन करना होगा। एक सार्थक उत्तर की तलाश से प्रतिबद्ध जीवन व्यवस्था में ही सही आधुनिकता की अवधारणा पानी होगी। और, जब हम सार्थक उत्तर की बात करते हैं तो वह उत्तर ऊपर से खोजा गया न होकर जीवन के भीतरी तर्क से निकालना

होगा। जीवन का आन्तरिक तर्क तथाकथित पवित्र चेतना की आस्था में न होकर तार्किक चेतना के विवेक में होता है। और यहां फिर एक बात कहनी पड़ती है कि सही आधुनिकता के लिए सच्चा राजनैतिक और आर्थिक लोकतंत्र अनिवार्य है। जिसके लिए डॉ० मेघ के शब्दों में सामाजिक समानता, आर्थिक समाजवाद और सांस्कृतिक ज्ञानोदय होना आवश्यक है।

आधुनिकता के संदर्भ में जो कुछ भी पीछे कहा गया है उसका सही ज्ञान ही आधुनिकता बोध है। अर्थात् आधुनिकता के जो घटक मनुष्य की चेतना का रूपान्तरण कर रहे हैं, उनका सम्यक ज्ञान। इसे जानकर किया गया आचरण या कृत आचरण के प्रति विवेकशील दृष्टि ; इस दृष्टि में—जो घटित हुआ है, वह होना ही था—के नियतिवाद का विरोध और उस होने के ऐतिहासिक-सामाजिक आर्थिक कारणों का विश्लेषण। दूसरे शब्दों में जीवन के उन तत्वों का विरोध जो व्यक्ति को ऐसे समूहवाद में परिवर्तित करते हैं जो दूसरे समूह या व्यक्ति के जीवन अधिकार को छीनते हैं—आधुनिकता बोध को रूपायित करते हैं। परम्परा के दिव्य-शुद्ध संस्कार यदि शो-पीस की तरह जीवन में लिए जाएं तो आधुनिकता का निषेध नहीं होता किन्तु यदि वे समकालीन जीवन को गुणात्मक रूप में प्रभावित करें तो वह निश्चित ही आधुनिक होना होगा।

क्योंकि, हम एक सामाजिक अनुभव के बीच जी रहे हैं और परम्परागत अनुभव तथा सामयिक अनुभव की टकराहट के माध्यम भी हैं अतः हम यह आसानी से समझ सकते हैं कि राजनैतिक आर्थिक स्तर पर समाजवाद की ओर बढ़ता कदम आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को न केवल एक रूप देगा, अपितु उसकी समग्रता का निर्णय भी करेगा।

वास्तविक आधुनिकीकरण राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर पर होता है। राजनैतिक स्तर पर समाजवाद की स्थापना के लिए, पूंजीवाद से संघर्ष, आर्थिक स्तर पर वर्गगत खाइयों को पाट कर समत्व की स्थापना की कोशिश और सांस्कृतिक स्तर पर परम्परागत जड़ मूल्यों का निषेध—इस प्रक्रिया के जीवन्त घटक हैं। और एक स्तर पर यह प्रक्रिया संश्लिष्ट है। यहीं समकालीन समाज के दो स्पष्ट रूप हो जाते हैं—एक रूप है समाज निर्मिति के अन्तर्विरोधों को दूर करके सही आधुनिक चेतना का विकास और दूसरा है··· किन्हीं संगठनों और संस्थाओं द्वारा इस स्थापना का विरोध। पर यह द्वन्द्व की स्थिति ही आधुनिकीकरण की प्रक्रिया है। इसके अभाव में नई चेतना युक्त समाज, साहित्य की रचना असम्भव है।

सर्जनात्मक साहित्य के संदर्भ में आधुनिक अनुशासनों से हमें कुछ शब्द मिले—जो एक भाव और विचारगत फिनोमिना की सृष्टि करते हैं। मार्क्सवाद से—विद्रोह, संघर्ष, वर्गभेद, वर्ग संघर्ष ; अस्तित्ववाद से—भोगा हुआ यथार्थ, परायापन, अजनबीपन, संत्रास, विघटन, विसंगति आदि और मनोविश्लेषण से आत्मरति, हीन भावना, लघुत्व···आदि। कहना न होगा कि विभिन्न विचारधाराओं से प्रभावित रचनात्मक साहित्य में इस शब्द वली की विचारगत प्रचुरता है और इसी अर्थ में आलोचना ने इस शब्दावली का प्रयोग किया है।

अब प्रश्न यह है कि आलोचना ने—नव्य अनुशासनों से उद्‌भूत आधुनिकता बोध को किस रूप में अपनाया और साहित्य तथा समाज के रिश्तों का विश्लेषण क ते हुए अपनी पद्धति को किस रूप में विकसित किया।

हमारे यहां आलोचना की परम्परागत रस-अलंकारवादी पद्धति छायावादी काव्य तक साहित्य धारा का निर्णय करती रही लेकिन उसके बाद नए अनुशासनों से प्रभावित लेखन के लिए वह उतनी ही अनुपयुक्त सिद्ध हुई। क्योंकि रचना की संश्लिष्टता मार्क्स, फ्रायड और सार्त्र के आधुनिक चिंतन से निर्मित हुई। जब हम एक आधुनिक सम्पूर्ण मनुष्य की कल्पना करने लगते हैं तो यह सब अनुशासन अकेले उसके लिए असमर्थ लगते हैं। सम्पूर्णता या समग्रता के लिए हमें इन सब में से थोड़ा-थोड़ा लेना होता है। समकालीन रचनाकार के सामने ऐसी कोई कठिनाई नहीं आई कि वह इस संश्लिष्टता को पाने के लिए या इससे मुक्ति के लिए कोई अतिरिक्त प्रयास करे लेकिन आलोचना के सामने यह चुनौती अवश्य उपस्थित हुई कि इस संश्लिष्ट रचनाकार के व्याख्या विवेचन के लिए वह किस से कितना ले। आधुनिक रचनाकार को लेकर अनेक रसवादी और भाववादी आलोचकों की यही दिक्कत रही। डॉ० नगेन्द्र, नन्ददुलारे बाजपेई आदि आलोचक अपने को आधुनिक बोध से सम्पन्न भी मानते रहे और आधुनिकता बोध जिस मानसिकता का निर्माण करता है उसके सही व्याकरण और रेखांकन से कतराते भी रहे।

हिन्दी आलोचना ने एक स्तर पर अस्तित्ववादी शब्दावली अपना कर एक क्रम विशेष में आने वाले लेखकों की व्याख्या विवेचना की। कविता के संदर्भ में नई कविता की परम्परा स्थापित करते हुए और उसका मूल्यांकन करते हुए अस्तित्ववादी जीवन दृष्टि और पारिभाषिक शब्दावली का घटाटोप निर्मित किया गया। इस आलोचना ने इस बात की बिल्कुल उपेक्षा की कि हिन्दी कविता की धारा अज्ञेय के प्रयोगवाद और बाद में नई कविता से इतर जनचेतना से संयुक्त एक सशक्त धारा के रूप में विकसित होती रही। प्रारंभ में आलोचना ने आधुनिकता के सभी सूत्र अस्तित्ववादी और मनोविश्लेषणवादी पारिभाषिक शब्दावली से ग्रहण करने शुरू किए। जिसे स्पष्ट करने के लिए आधुनिकता बोध सम्पन्न आलोचना दृष्टि का एक वर्गीकरण करना आवश्यक है। एक रचनाकारों की आलोचना दूसरी आलोचकों की आलोचना। रचनाकारों में अज्ञेय, मुक्तिबोध, जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकांत वर्मा आदि ने आलोचना करते हुए या अपने रचना सिद्धांतों की बात करते हुए आधुनिकता बोध को अपना आधार तो रखा लेकिन उसका सारा स्वरूप मुक्तिबोध के अतिरिक्त व्यक्तिवादी अधिक रहा। डॉ० मेघ ने अवमानवीकृत अनुगामिता और मानवीय कृत अनुगामिता में आधुनिक बोध के विभिन्न आयामों की चर्चा की है…हमारी दृष्टि में वे सब स्थापनाएं आधुनिक बोध से गृहीत संस्कार को स्पष्ट करती हैं। दूसरी श्रेणी के आलोचकों में, नामवर सिंह, रमेश कुन्तल मेघ, शिवकुमार मिश्र, विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, नवल किशोर, नरेन्द्र मोहन, देवेन्द्र इस्सर, धनंजय वर्मा आदि आलोचक आते हैं जिनकी आलोचना का मूल प्रतिमान आधुनिक बोध से सम्पन्न या उद्‌भूत दृष्टि है। इसमें अधिकतर आधुनिकता बोध के उस रूप को लिया गया जिसे डॉ० मेघ ने

मानवीय कृत अनुगामिता के रूप में माना है। आज का मनुष्य, समाज और इतिहास एक ऐसी त्रयी का रूप धारण करते हैं जो विश्लेषण के सन्दर्भ में अस्तित्ववादी अमानवीय कृत धारणा से मुक्ति पाने की बात करते हैं।

आज की समीक्षा में आधुनिकता बोध की कुछ ऐसी स्थितियां मूलरूप में विद्यमान हैं जो सैद्धान्तिक, पारिभाषिक शब्दों के द्वारा विश्लेषित नहीं की जा सकतीं। रसवाद का विरोध समीक्षा और आधुनिकता के एक रिश्ते की शुरूआत करता है। रस शब्द कहते ही काव्य की पुरानी धारणा सामने आती है जबकि कविता पुरानी नहीं रही उसका प्रभाव न रसात्मक रहा और न उतना आनन्दात्मक। अत: आज की आलोचना ने रस और आनन्द का निषेध करते हुए कविता की परख आधुनिकता बोध के उस बिन्दु से की जहां संघर्ष-चेतना लेखन का मूल आशय बनती है, इसके साथ ही आज की आलोचना ने अस्तित्ववादी शब्दावली की व्याख्या सामाजिक संगति के सन्दर्भ में करते हुए उसकी बहुत कुछ विचारधारा को स्वीकृत भी किया।

आधुनिकता बोध और आलोचना की सबसे बड़ी सगति उस स्तर पर होती है जहां महानता का निषेध करके सामान्य सार्थकता की स्वीकृति पर बल दिया जाता है। नए साहित्य के प्रारम्भ से ही महान, गौरवपूर्ण और बड़े के विकल्प में सामान्य, सार्थक और लघु की अभिव्यक्ति होती रही। हिन्दी आलोचना ने इस स्थिति को लेखन और बदलते हुए समाज के रिश्तों में स्वीकार किया। आधुनिक आलोचना ने स्पष्ट किया कि **कामायनी** की महानता से कम महानता **अंधेरे में** में नहीं है बल्कि उसकी प्रासंगिकता अधिक गुणात्मक होने के कारण सार्थकता के अनेक आयाम निर्मित करती है। डॉ० नामवर सिंह की और डॉ० मदान की आलोचना ने रसवाद और कथावाद का विरोध ही नहीं किया अपितु इसके साथ **अंधेरे में** की मूलदृष्टि को समझने का प्रयास किया और **साकेत** जैसे घोषित महाकाव्य के काव्यत्व पर भी प्रश्नचिह्न लगाया। यह इसीलिए हुआ कि आधुनिकता बोध से सम्पन्न आलोचना ने कविता की सामाजिक भूमिका को प्रतिपादित करते हुए कविता की प्रासगिकता पर अधिक विचार किया। कई आलोचकों ने कुछ मूलाधार अपनाए जैसे 'बीट बोध, विसंगति बोध (देवेन्द्र इस्सर) अजनबीपन, परायापन, विघटन (विश्वम्भर नाथ उपाध्याय) नियतिवादिता का विरोध और मानववाद की प्रतिष्ठा (नवल किशोर) सामाजिक और सांस्कृतिक संगति (र० कु० मेघ) आधुनिकता एक सतत प्रक्रिया (नरेन्द्र मोहन) कलात्मक और सामाजिक दायित्व (धनंजय वर्मा) भाषा की आधुनिकता (रामस्वरूप चतुर्वेदी) और इस आधार पर रचनाशीलता की परीक्षा की। यह एक आश्चर्यजनक बात नहीं है कि आधुनिक आलोचना ने उन रचनाओं के प्रति भी तटस्थ विश्लेषण की दृष्टि अपनाई जिनमें यथार्थ के स्तर पर मूल्यहीनता, विसंगति, विघटन आदि का चित्रण हुआ।

रचनाकारों ने अपनी आलोचनाओं में सामान्यत: उन स्थितियों को प्रमुखता दी जो उनकी रचना की प्रेरणा बनी रहीं। अज्ञेय ने आधुनिकता के पहले दौर की भाषा का प्रयोग करते हुए विषय और वस्तु, व्यापक सत्य और व्यक्ति सत्य की परख की और यह स्वीकार किया कि राग वही रहने पर भी रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियां बदल गई हैं। मुक्तिबोध ने अपने

आलोचनात्मक लेखों में आलोचना के मूल सिद्धान्तों के साथ-साथ सिद्धान्तों के प्रयोग के तरीकों को अधिक महत्वपूर्ण बताया और उनकी स्थापना से यह स्पष्ट रूप में आभासित होता है कि उनका आधुनिकता बोध संघर्षशील दृष्टि और सामाजिक दृष्टि तथा सौन्दर्य प्रतीति के समन्वय में स्थापित होता है। उन्होंने पंत, प्रसाद, शमशेर और मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन की व्याख्या, विश्लेषण करते हुए काव्य को एक सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में माना किन्तु उसमें वास्तविकता के प्रति गंभीर संवेदन क्षमता की वकालत की। पंत और प्रसाद की संवेदन प्रणाली की भिन्नता की भी चर्चा की जो इन कवियों की सीमा बन जाते हैं। रूप और तत्व की परस्पर आश्रितता की बात करते हुए उन्होंने तत्व की आलोचना पर अधिक बल दिया जिससे साहित्य के तत्व और जीवन की भिन्नता की धारणा को निराधार बताते हुए वास्तविक जीवन के तत्वों की प्रमुखता स्थापित की। जहा मुक्तिबोध वास्तविक करुणा की बात करते हैं वहां वे शायद आलोचक की आधुनिकता की दृष्टि की बात करते हैं।

जगदीश गुप्त और लक्ष्मीकांत वर्मा की आलोचना मानवमूल्यों के संदर्भ में लघुमानव की कल्पना को सहज और स्वाभाविक मानती है लेकिन इनमें भी छोटे से छोटे घरौन्दे में पराजय और विवशता को भुलाने की प्रवृत्ति का विरोध किया गया है।

आज की हिन्दी आलोचना का एक सशक्त आयाम मार्क्सवादी आलोचना में मिलता है। आधुनिकता बोध की मानवीय कृत धारणाए नियतिवादिता के विरोध में मनुष्य के श्रम या कर्म की निष्ठा पर बल देती हैं। सैद्धान्तिक समीक्षा से हटकर और दार्शनिकता से स्थगित होकर जहां कहीं डॉ० मेघ ने व्यावहारिक आलोचना की है वहां उन्होंने रचना के सौन्दर्य पक्ष की अवहेलना न करते हुए उसकी सामाजिक प्रासंगिकता पर अधिक बल दिया है। **कनुप्रिया** पर उनका समीक्षात्मक लेख हमारी इस धारणा को पुष्ट करता है। डॉ० नामवर सिंह ने 'नई कविता के प्रतिमान' में उन नए आधारों को लिया जिनसे आधुनिक कविता की व्याख्या समाज सन्दर्भ में हो सके। लेकिन उन्होंने जहां रस की प्रसंगानुकूलता पर प्रश्न किया वहां नए प्रतिमानों में यथार्थ दृष्टि, ईमानदारी, काव्य बिम्ब और सपाट बयानी, प्रतीकात्मकता और नाटकीयता, विसंगति और बिडम्बना आदि आधारों से कविता के साहित्यिक और सामाजिक सरोकारों की समीक्षा की। नामवर सिंह का प्रतिमान यदि मुक्तिबोध की कविता रही है तो रामविलास शर्मा का प्रतिमान निराला, कहना न होगा कि इस प्रकार के एकांतिक प्रतिमान आलोचना के मुख्य स्तर को संकुचित भी करते हैं। इन दोनों आलोचकों की आलोचना में यह संकुचन अनेक स्थलों पर पाया जाता है।

अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या में रामस्वरूप चतुर्वेदी जी ने आधुनिकता बोध का एक स्तर गैर रोमांटिसिज्म में माना है। लेकिन डॉ० इन्द्रनाथ मदान का यह कहना सही प्रतीत होता है कि वह गैर होने की गवाही नहीं देती। रामस्वरूप चतुर्वेदी रसवाद का भी हल्का विरोध करते हैं लेकिन उनकी आलोचना दृष्टि अज्ञेय के प्रति आस्था में इतनी सीमित हो जाती है कि वे आधुनिकता बोध को अज्ञेय या उन जैसे कवियों की रचनाओं में ही मानते हैं। यह सही है कि हिन्दी आलोचना की नव्यता और भिन्न प्रतिमानों की सृष्टि कविता के

माध्यम से ही हुई क्योंकि जितनी सिद्धांतपरक चर्चाएं कविता को लेकर हुई उतनी कथा साहित्य को लेकर नहीं। वैसे पिछले दो दशकों में कहानी को लेकर समीक्षा का एक महत्वपूर्ण संसार खड़ा किया गया लेकिन आधुनिकता बोध को जिस स्तर पर कविता की आलोचना ले सकी उस स्तर पर कथा साहित्य की आलोचना नहीं ले पाई। वैसे लगता यह रहा है कि पिछले दो दशकों में कविता पर कम और कथा साहित्य पर अधिक बातें हुई हैं।

समकालीन रचनाधर्म का मूल आशय प्रचलित समाज व्यवस्था में मानव विरोधी और एक सहज स्वतंत्र समाज की निर्मिति का लक्ष्य रहा है। इसी स्तर पर आधुनिक समीक्षा के दो और वर्गीकरण हो जाते हैं—एक में वे आलोचक आते हैं जो कविता, कहानी, उपन्यास, किसी की भी प्रयोगधर्मिता कथ्य के समाजीकरण, संघर्षमयता की ऊंचाईयों को विधि की कलात्मकता के भीतर ही विश्लेषित करते हैं; दूसरे वे जो विषय की प्रासंगिकता को ही महत्व देकर लेखन और समाज के रिश्तों की बात करते हैं। आधुनिक बोध ने समीक्षा के संदर्भ में सबसे बड़ा काम यह किया कि रूपवाद का महत्व कम किया लेकिन गम्भीर वैचारिक दृष्टि की पृष्ठभूमि होने के कारण अनेक समीक्षकों ने जीवन के यथार्थ को व्यक्त करने वाली रचनाओं की भरपूर प्रशंसा नहीं की। इस सन्दर्भ में **मुर्दाघर, सारा आकाश, राग दरबारी, उनका फैसला, बसंती, लाल पीली जमीन** पर प्रकाशित उन अनेक समीक्षात्मक लेखों को लिया जा सकता है जिनमें लेखक की एक प्रतिबद्ध, सुविचारित दृष्टि परिणाम में फलित न होने के कारण उस पर दृष्टिहीन होने का आरोप लगाया गया। अनेक चर्चा-परिचर्चाओं के बीच यह बात बार-बार उभर कर आई कि नागार्जुन की कवितत्व हीन कविताएं किसलिए बहुत महत्वपूर्ण हैं? ऐसी स्थिति में आधुनिक हिन्दी आलोचना आधुनिकता बोध के साथ समीक्षा के अन्य उपादनों, मूल्यों, मानों का अतिक्रमण करके वर्गों और खेमों में विभाजित हो गई। प्रेमचन्द ने भारतीय जीवन के जिस यथार्थ का चित्रण अपनी रचनाओं में किया है वैसा यथार्थ नागार्जुन और यशपाल या भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में नहीं मिलता। इस स्थिति का अनुभव करते हुए भी आलोचना ने दो टूक रूप में इस तरह के फैसले नहीं किए।

मार्क्सवादी आलोचना ने भी आधुनिकता बोध को जिस स्तर पर लिया उसे हाशिए से इस्तेमाल करते हुए अपनी बात कही। उन्होंने व्यक्तित्व की खोज की अंतर्मुखी यात्रा का विरोध किया, अज्ञेय का अकेलापन निषिद्ध घोषित किया, अनुभव की प्रामाणिकता और ईमानदारी पर बात करना उचित नहीं समझा लेकिन इसके विपरीत समाज सम्बद्ध यथार्थवाद की आधार शिला के बावजूद समूहगत मानसिकता के अंतर्विरोधों पर चुप्पी साधते रहे। शायद इसीलिए धनंजय वर्मा को 'मार्क्सवादी आलोचना एक पुनर्विचार' लेख लिखना पड़ा। कहने के लिए तो हर मार्क्सवादी आलोचक यह कहता है कि उनकी आलोचना का मतलब पार्टीपरक नीति का अनुसरण और स्थूल सैद्धांतिक आग्रह नहीं है। वह साहित्य की सामाजिक सार्थकता और प्रासंगिकता की तलाश है, उसकी एक विवेक सम्पन्न और वैज्ञानिक पहचान है, लेकिन पिछले तीस वर्षों में कम्युनिष्ट पार्टी के पार्टियां बनते जाने की प्रक्रिया में आलोचना के

परस्पर आधार और व्यवहारगत बिन्दुओं में उभरा अन्तरविरोध साफ झलकता है। रचना के रागात्मक और संवेदनात्मक धरातल आधुनिकता बोध के जिन स्तरों पर रचनाओं में आए हैं विचारों में उनका वह रूप दिखाई नहीं देता। अनेक बार ऐसा हुआ है कि सैद्धांतिक रूप से की गई व्याख्याओं से रचनाएं प्रस्थान करती रही हैं। वस्तुत: 'आधुनिकता बोध' ने आलोचना को उतना समृद्ध नहीं किया जितना रचना को। सर्जक कलाकार विवेक बुद्धि से नियत इस बोध को, वर्तमान की जिस टकराहट में अनुभव करता है उसकी व्याख्याएं तो हुई हैं लेकिन उसके आधार पर निर्णयों में विवाद बना रहा। इसका एक दिलचस्प पहलू एक ओर तो इस आधार पर अनुभव होता है कि एक मार्क्सवादी आलोचक कहे कि हमने पार्टी लेवल पर यह फैसला किया है कि अमुक लेखक का समर्थन करेंगे अमुक का विरोध और दूसरा दिलचस्प रूप यह कि नामवर सिंह 'कहानी : नई कहानी' में राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर की चर्चा करते हुए कमलेश्वर की प्रगतिशील दृष्टि को राजेन्द्र यादव की अस्तित्ववादी दृष्टि की तुलना में रेखांकित करते हैं और कुछ समय बाद ही सामान्यजन को केन्द्र में रखकर समांतर कहानी की चर्चा करते हुए वे कमलेश्वर के रचनाकार के रूप में अनेक अवगुण, भ्रम और फ्रॉड गिनाते हैं और वही आलोचक 'मेरा पन्ना' किताब रूप में प्रकाशित होने पर उस पर बात करना अनिवार्य समझते हैं। अर्थात् रचनात्मक आशय और समीक्षात्मक विवेक में कहीं न कहीं अंतर्विरोध मिलता रहा है।

इस अन्तर्विरोध की बहुत संभव खोज हमारे नए बनते हुए देश में की जा सकती है क्योंकि यहां पर ये सारे आधार और कारण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं जिनसे हमारा लेखन अस्तित्ववादी जीवन दर्शन की ओर झुका और दूसरे कारण भी प्रचुर मात्रा में रहे जिनके कारण मार्क्सवादी दृष्टि की ओर झुकना एक बहुत बड़ी सामयिक आवश्यकता ही नहीं थी अपितु ऐतिहासिक प्रक्रिया से उत्पन्न यथार्थ का स्वीकार था। इसीलिए एक ओर अस्तित्ववादी चिंताओं की अभिव्यक्ति दूसरी ओर जनसंघर्ष की अभिव्यक्ति और इन दोनों की परीक्षा करती हुई आलोचना सामने आती रही।

आधुनिकता बोध से प्राप्त जिन पारिभाषिक शब्दों को एक फिनौमेनोन के रूप में लिया गया उनमें 'आत्म परायापन' की धारणा ने आलोचना को एक दृष्टि तो दी लेकिन एक भ्रम भी पैदा किया। यह भ्रम तब और भी अधिक गहरा दिखाई देता है जब विभिन्न सन्दर्भों में 'एक ही आलोचक अलग-अलग रचनाकारों को लेकर भिन्न निष्कर्ष निकालता है।' आधुनिकता-बोध तात्कालिकता और क्षणवाद में नहीं है लेकिन जिन रचनाओं में तात्कालिकता का अतिक्रमण करके शाश्वत दृष्टि के बीच क्षण और तत्काल की विशिष्ट स्वीकृति मिलती है उनकी व्याख्या विवेचना भी किन्हीं कारणों से पूर्ण नहीं हो पाई। आधुनिक बोध का महत्वपूर्ण घटक उदात्त और उच्च के प्रति व्यामोह का खडन है। इसे रचनाकारों ने जितनी गभीरता से लिया उसके अनुरूप आधुनिक समीक्षक ने अनेक सामाजिक आर्थिक कारणों की जांच करते हुए इस मोहभग की स्तुति भी की।

आधुनिकता बोध वस्तुतः एक संश्लिष्ट गतिमान जीवन प्रक्रिया का बोध है। वह जितने गुणात्मक रूप में रचनाकार को प्रभावित करता है उतने ही पैमाने पर समीक्षा के सरोकारों को बनाता है। हमें यह देखना होगा कि आधुनिक समीक्षा आधुनिकता बोध के मार्क्सवादी सैद्धांतिक मानों के प्रति जड़तापूर्ण आग्रह से बचे और उतनी ही मात्रा में अस्तित्ववादी दर्शन से मुक्ति प्राप्त करे।

हिन्दी समीक्षा की परम्परावादी दृष्टि का सरोकार केवल रचना था, रचना और समाज का रिश्ता नहीं था, आधुनिकता बोध ने समीक्षा को अन्य मानदण्डों की तुलना में सामाजिक सरोकार से संपृक्त किया। रचना के कलागत, सौन्दर्यपक्षीय मूल्यांकन के साथ वह उसकी सामाजिक प्रासंगिकता और प्रामाणिकता पर भी विचार करती है। यदि रचनाकार अपने इंट्यूशन, अपने स्वायत्त संसार, अनुभव जगत की प्रामाणिकता की बात करता है तो आलोचक के पास भी विभिन्न अनुशासनों, सांस्कृतिक सामाजिक आवश्यकताओं के संसार की अवधारणा है। दोनों में टकराहट होती है या समन्वय, यह इस बात पर निर्भर करता है कि दोनों जीवन, समाज, व्यक्ति को और इससे परे इतिहास को किस दृष्टि से देखते हैं। यह दृष्टि ही यह तय करती है कि वे कितने आधुनिक हैं और कितने नहीं हैं। क्योंकि यह किसी को नहीं भूलना चाहिये कि व्यक्ति स्वातंत्र्य की परिणति परायेपन में होती है और प्रतिबद्धता में 'स्व' का विलयन होता है। लेकिन ये दोनों परिणतियां आज के मनुष्य के अस्तित्व से जुड़ी हैं।

—२५, बंग्लो रोड, दिल्ली—११०००७

कहानी

धोबी का कुत्ता

—अलंकार

पूरा शहर जैसे मर गया था। पिछले साल पाकिस्तान के साथ लड़ाई के समय भी रात ऐसी ही हो जाया करती थी। सुनसान, अकेली, नंगी सड़कों पर किसी आदमी का साया नहीं दीखता था और न ही किसी कार, जीप के रेंगने की आवाज ही सुन ई देती थी। तब भी चन्दर ऐसे ही सड़कें नापता रहता था। जब तक रात के दस न बज जाएं, वह घर नहीं जाता था। उसे वहां जाने की विवशता हमेशा कचोटती थी जिसे वह तोड़ देना चाहता था। फिर भी एक सिलसिला बना हुआ था– पहचान का, मजबूरी का, रिश्ते का। वहां जाना, सुवह जल्दी ही उतर आना और फिर सारा दिन…… !

आज नगरपालिका ने शहर के सभी आवारा कुत्तों को खत्म करने का जिम्मा अपने ऊपर लिया हुआ था। दस-बारह गाड़ियां और हर एक में दस-बारह आदमी सभी गलियों और बाजारों में ज़हर की गुत्थियां और बन्दूकें थामे चक्कर लगा रहे थे। अच्छे भले कुत्ते भी उन्हें देखकर पगला गए थे और गोली का निशाना वन गए थे। लोगों ने अपने बच्चे और कुत्ते घरों में बंद कर दिए थे। शहर की हलचल राजे के महलों की तरह बिलकुल खामोश हो गई थी। सिर्फ दीवारें ही दीवारें दीखती थीं जिनके भीतर किसी के रहने की संभावना कहीं नजर नहीं आती थी। अजीव-सा सन्नाटा था—तवी पुल के नीचे बहते हुए पानी की तरह।

जानीपुर वह वीरू के घर उससे सत्तर रुपये उधार मांगने गया था। कल इम्तिहान की फीस भरने का अन्तिम दिन है। वीरू उसका बहुत पुराना स्कूल का दोस्त था। उन्होंने एक साथ बहुत सैरें की थीं, बहुत खेले थे, एक तरह के सपने देखे थे। उसकी आर्थिक स्थिति जानते हुए चन्दर को विश्वास था वीरू उसे इन्कार नहीं करेगा। वीरू काफी देर तक अपने बढ़ते हुए अगरवत्तियों के विजनेस की बातें करता रहा था। आजकल वह दो हजार रुपया महीना कमाता है। उसने गाड़ियां डाल ली हैं, कार खरीद ली है। जब चन्दर ने उससे सत्तर रुपए मांगे, जिन्हें वह अगले महीने कैसे भी लौटा देगा, तो वीरू के चेहरे का रंग ऐसे उतर गया जैसे इन्कम टैक्स

वाले अचानक उसकी दुकान पर चढ़ आए हों। उसने फिलहाल रुपए देने की असमर्थता उसके सामने व्यक्त कर दी थी।

तभी सेण्ट्रल जेल के घड़ियाल ने दस घण्टे बजाए। वह वेद मन्दिर की पिछली गली में हो लिया। इस गली से उसका दर्द का रिश्ता है। अब वह वहां नहीं है जिसके लिए वह चक्कर लगाया करता था पर फिर भी जब भी वह इस ओर आया हो तो इसी गली से गुजरता है। 'उसकी' शादी वाली रात को उसने सुबह तक इस गली के पता नहीं कितने चक्कर लगा डाले थे। एक दिन इन्दरा ने उसे बताया था वे दोनों छत से उसका चक्कर लगाना देखती रही थीं। कहते हुए इन्दरा की आंखों से आंसू गिरने लगे थे लेकिन वह पत्थर के बुत की तरह उसके आंसुओं को गिरता देखता रहा था। उसके पास कहने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहा था। उसे किसी को इस बारे में कुछ कहना भी नहीं था।

जेल की ओर मुड़ते ही उसने घर जाने का विचार छोड़ दिया। चन्दर को तब नत्थू की याद हो आई थी। शायद उसके हां से पैसों का बंदोबस्त हो जाए। वह रिहाड़ी चुंगी से के० सी० मोड की ओर मुड़ गया था। घर जाना वह वैसे भी कल की घटना के कारण टाल देना चाहता था। मदर खाना देते समय हमेशा की तरह बुड़बुड़ा रही थी। उन्हें चन्दर से सबसे बड़ी शिकायत यही थी कि वह बाकी रिश्तेदारों के हम-उम्र लड़कों की तरह कमा कर क्यों नहीं लाता। गली के लड़के मदन ने किसी 'ऊपर' की आमदनी वाले दफ्तर में नौकरी लगवा ली थी। मदन केवल मैट्रिक पास था। उसकी चपरासीनुमा नौकरी की शोहरत मदर से बर्दाश्त नहीं होती थी। उसकी छोटी बहन ने भी एक दिन कह दिया था कि वह भी वैसी ही कोई नौकरी क्यों नहीं कर लेता! कल जब मदर ने यह कहा कि जो खाना वह खाता है—मुफ्त में नहीं आता और कब तक उसे इस तरह खाना खिलाना है, उससे मुंह में डाला हुआ कौर भी निगला नहीं गया था। उसे थूक कर वैसा ही खाना छोड़ वह सीधा अपने कमरे में चला गया था और अन्दर से दरवाजा बंद कर लिया था।

तब फादर ने आकर दरवाजा ज़ोर-ज़ोर से ठोकना शुरू कर दिया था। उसके न खोलने पर उन्होंने पैरों से पीटना शुरू कर दिया। चन्दर के दरवाजा खोलने पर फादर ने उसकी बहुत पिटाई की थी। हाथों से, पैरों से…चन्दर ने तब खाना तो खा लिया था पर इस तरह के खाने से वह जल्दी ही छुटकारा पा लेना चाहता था।

उसके फटे हुए तले से होता हुआ एक कांटा सीधे उसके पैर में घुस गया था। पीड़ा से उसकी चीख निकल गई। वहीं पत्थर पर बैठ कर उसने कांटा तो निकाल दिया पर खून के कतरे बार-बार मिट्टी मलने के बाद भी बंद नहीं हो रहे थे। पिछले तीन महीनों से वह इस बूट को तला चढ़वाना चाहता है लेकिन आज तक उधड़ी हुई सिलाई तक नहीं जुड़वा पाया है।

बस अड्डे के सामने चन्दर ने नत्थू के झोंपड़े का दरवाजा खटखटाया तो तेजी से कुछ हिलने की आवाजें आईं। नत्थू अभी सोया नहीं था और उसका अनुमान था कि अन्दर कोई

और भी है। दरवाजा खोलकर नत्थू बाहर आया तो उसके कंधे पर हाथ रखकर बोला—'तू है, मैं समझा इस समय पता नहीं कौन टपक पड़ा है।'

'मैं आज तुम्हारे पास ही रहूंगा।' चन्दर इतना ही बोल सका।

'जा और एक घण्टे के बाद आना। मैं ज़रा अन्दर निपट लूं। डुबकी लगाता हो तो रह जा।'

'नहीं, मैं घूम कर आता हूं।'

ज्यूल थियेटर का अन्तिम शो छूटने वाला था। वहां चक्कर लगाते उसे स्कूल के दिन याद हो आए, जब वह यहां का जाना-पहचाना ब्लैकिया हुआ करता था। पिक्चरें और अपने छोटे-मोटे शौक वह इन्हीं पैसों से पूरे किया करता था। उसकी नत्थू के साथ दोस्ती भी इसी पेशे में हुई थी। थर्ड क्लास का गेटकीपर भी उनका पार्टनर हुआ करता था। अब वह यह पेशा नहीं अपना पाता। लोगों ने पहचानना शुरू कर दिया था। कॉलेज भी साथ है और पुलिस के डंडे बेशर्मी से खाने की अब उम्र भी नहीं रही। उम्र से उसे याद आया कल वह उन्नीस साल का हो जाएगा। उन्नीस साल! उसे कुछ देर के लिए अपने को लानत देने का मन हो आया। वह अखबारों में रोज पढ़ता है उसकी उम्र के लड़के कितने बड़े-बड़े काम करके दुनिया भर में मशहूर हो गए हैं और एक वह है कि घर, शहर से भाग कर पिक्चर की टिकटें ब्लैक करने के बारे में सोचता रहता है।

कॉलेज रोड पर चलते उसे आज प्रोफेसर नदा का क्लास से बाहर निकाल देना कचोट गया। किताब न होने के कारण वह सबसे पीछे डेस्क पर बैठता कहीं पूछने पर उसे क्लास से बाहर न निकाल दिया जाए। आज जब वे डायग्राम बना रहे थे तो उन्होंने उसका हाथ न चलना देख लिया था।

'थ्री सेवनटी टू!'

'यस सर।' चन्दर सब समझ गया था। उन्होंने उसे एक हफ्ते के लिए बाहर निकाल दिया था।

चन्दर को अपनी कमजोर हो चुकी आंखों का पता है। इसे बोर्ड पर लिखा जा रहा कुछ भी दिखाई नहीं देता। लेकिन चश्मे के बारे में वह अभी सोच भी नहीं सकता। उसकी दूसरी जरूरतें इससे इतनी बड़ी हैं कि उनके सामने उसे यह जरूरत बहुत बौनी लगती है।

जब कभी उसके साथ ऐसा हादसा हो जाए तो उसमें से निकलने के लिए उसके सामने दो ही रास्ते रह जाते हैं—किसी लायब्रेरी में जाकर घंटों पढ़ता रहे या नहर-तवी के किनारे बैठा सोचता रहे...एक राजकुमार था, उसे सपने में दो बहुत ही खूबसूरत हाथ नज़र आते थे। राजकुमार जब कभी उन्हें पकड़ने की कोशिश करता, उसका सपना टूट जाता। इस सपने से छुटकारा पाने के उसने बहुत यत्न किए लेकिन वह उसमें डूबता ही चला गया। दिन-रात राजकुमार उसी में खोया रहता। एक दिन वह अपने महलों को छोड़, अपने घोड़े पर बैठ उन

दो हाथों को तलाशने के लिए निकल पड़ा। कई मौसम बीत गए। कई जंगल और पहाड़ गुज़र गए लेकिन वे हाथ उसे कहीं नहीं मिले। एक रात वह थकान से चूर किसी दरिया के किनारे सोया हुआ था। उसने देखा उन दो हाथों के पीछे की धुंध छटती जा रही है। उसने अपने सामने सफेद कपड़ों में लिपटी आसमान से उतरी एक परी को देखा। इस परी को उसने पहले भी देखा हुआ था। वह अल्का थी। तीन साल पहले अल्का के बाप ने राजकुमार के साथ उसे देख लिया था। इससे पहले कि उसका सारा खानदान मरवा दिया जाता, उसने अपनी बेटी का कत्ल कर दिया था। राजकुमार जब सुबह उठा तो उसका सपना पूरा हो चुका था। वह अपने महलों की ओर लौट गया। उसे फिर कभी भी वे हाथ सपने में दिखाई नहीं दिए।

बारिश तेज होने पर चन्दर अपने में लौट आया। सड़कों पर फैला पानी देख उसे लगा बारिश काफी हो गई है। उसके कपड़े भी भीग गए थे। साइंस कॉलेज के गेट के साथ एक खोखे के नीचे वह खड़ा हो गया। दूर-दूर तक कोई जानवर भी नहीं दिख रहा था। दिन के समय कॉलेज और यूनिवर्सिटी की भीड़ में यहां बस भी नहीं पकड़ी जा सकती। वह तो अब पैदल ही जाता है। दस पैसे का सिक्का भी देने लायक वह नहीं रहा। एक ही साल में कितना कुछ बदल गया है। कितने दोस्त हुआ करते थे उसके···बाऊ, दिनेश, गोगा! उसे देखकर अब वे भी कन्नी काट कर निकल जाते हैं। उन्हें चन्दर के साथ चलने में शर्म लगती है। उससे नहीं—उसके कपड़ों से, उसकी जेब से।

पानी बालों से उतरता सिर की तहों के साथ जा लगा था। रूसी के कारण उसकी खुजली भड़क उठी। खुजलाते समय ढेर सारे बाल उसकी अंगुलियों के साथ निकल आए। अस्पताल में डॉक्टर को दिखाया था। उसने ढेर सारी दवाईयों की स्लिप उसके हाथ में थमा दी थी जिसे बाहर निकलते ही उसने फाड़ कर फेंक डाला था।

स्थितियां कुछ बेहतर हो सकती थीं यदि सरिता की ट्यूशन चलती रहती। दस-बारह रोज में ही उसके किसी चाहने वाले को पता चल गया था कि कोई स्मार्ट लड़का सरिता को पढ़ाने आता है। चाहने-वाला चार-पांच गुंडे लेकर गली की नुक्कड़ में आ खड़ा हुआ था। उसने चन्दर को वार्निंग दी थी कि वह सरिता को पढ़ाना छोड़ दे वर्ना वे लोग उसकी टांगें, सिर सब तोड़ डालेंगे। लड़ाई-झगड़ा बढ़ने से पहले ही सरिता की मां ने उसकी छुट्टी कर दी थी।

अब गंडू की छावनी पर तीन-चार दिन में नुमाइश लगने वाली है। पन्द्रह दिन अढ़ाई रुपया रोज पर गेट पर टिकट बेचने का बंदोबस्त हो जाए तो इन पैसों से उसका किताबें खरीदने का इरादा है।

नत्थू उसी का इंतज़ार कर रहा था—'कहां चला गया था? मैं कब से तुम्हारा इंतजार कर रहा हूं।'

'ऐसे ही आगे तक निकल गया था।'

'खाना खाया ?'

'खा के आया था।' उसने झूठ बोला।

'ठेके की दारू है, पीएगा ?'

'हां !' चन्दर से इसके लिए नत्थू न पूछता तो वह मांग लेता।

नत्थू ने दो गिलास तैयार किए और कोने में पड़ा दालमोठ और मोगरा उठा लाया। दोनों ने पीना शुरू कर दिया। चन्दर भूखा अधिक था इसलिए उसने पीने से ज्यादा खाने की तरफ ध्यान दिया था।

बत्ती बंद कर दोनों एक ही बिस्तर में साथ-साथ लेट गए तो अचानक सत्तर रुपए की बात उसके गले में आकर अटक गई। इससे पहले कि नत्थू सो जाए उसे बात कर लेनी चाहिए, लेकिन बात करने का सिरा उसके हाथ में नहीं आ पा रहा था।

'नत्थू, तू कितने साल का हो गया है ?'

'पच्चीस का।'

'यानी आदमी बन गया है। अब तू शादी कर ले। क्या तुम्हारा मन नहीं करता ऐसी बरसात में कोई गर्मा-गर्म पकौड़े अनारदाने की चटनी के साथ खिलाए। अधिकार के साथ आलू के परांठे बना दे।'

'लगता है दारू तेरे दिमाग में घुस गई है। अरे ईंट के पत्थर टिक्टें ब्लैक करने वाले को कौन बहन-बेटी देगा ?' फिर कुछ रुक कर बोला, 'एक राज़ की बात है, किसी से कहना मत। पिछले दिनों एक राजौरी की औरत से मुलाकात हो गई थी। वह वहां सरकारी अफसर है। वहां से अफीम लाकर मुझे देगी और मैं दूसरे शहरों में जाकर दे आया करूंगा।'

'स्मगलिंग के रास्ते में मत पड़ना नत्थू। पकड़ा गया तो...' नत्थू ने उसकी बात काट कर कहा– मुझे तरक्की करने का कोई दूसरा रास्ता नज़र नहीं आ रहा। चार-पांच हज़ार हो जाएं तो टी-स्टाल खोल लूंगा और इज्जत से रहूंगा।'

चन्दर उससे अधिक उलझ कर उसका मूड ख़राब नहीं करना चाहता था। रुपयों की बात फिर भी उसके गले से निकल नहीं पा रही थी।

'नत्थू, तू रियासी का रहने वाला है न ! तुमने कभी बताया नहीं वहां से इधर कैसे आ गया ?' पूछने के बाद उसे लगा उसने बहुत घटिया सवाल उससे पूछ डाला है।

'वहां से तो दस साल की उम्र में ही निकाल दिया था भाई-भाभी ने। मां-बाप तो कभी देखे ही नहीं। वैष्णों देवी के दरबार में जूतों की रखवाली करता था। पर वह काम करने से जी उकता गया। जिसमें हाड़-मांस न लगे उसमें मन रमता नहीं। दो-तीन साल पिट्ठू बना रहा और फिर शहर चला आया।'

'एक तरह से तू सुखी है। कोई बंधन तो नहीं।'

'रात बहुत हो गई है, अब सो जा,' नत्थू ने कहते हुए करवट बदली।

चन्दर के गले में अटकी हुई बात यकायक पिघल गई—'तुम से एक जरूरी बात करनी थी ?

नत्थू झट से उठ कर बैठ गया – 'हां-हां बोल ।'

चन्दर नत्थू के हाथ पर हाथ रखकर बोला – 'कल दाखिला भरने की आखिरी तारीख है । लेट फीस के साथ दाखिला नहीं भरा तो मेरा यह साल बर्बाद हो जाएगा ।' चन्दर ने महसूस किया उसकी आवाज़ भारी हो गई है—'देख, मन में कोई गांठ मत बांधना । न हो सके तो भी कोई बात नहीं । मैं सुबह कहीं और कोशिश कर देखूंगा ।' इतना कहकर उसने नत्थू के हाथ से अपना हाथ हटा लिया । अन्धेरे में वह जान नहीं पाया कि नत्थू के चेहरे पर कैसी रेखाएं उभर आई हैं ।

'चन्दरेआ, तू तो कभी-कभी रुलाने वाली बातें कर डालता है । पहले कहा होता तो कहीं से भी चोरी-डकैती करके तेरे लिए पैसे ले आता ।' नत्थू ने हाथ की घड़ी उतार कर उसकी जेब में डालते हुए कहा—'अब चूं चां की तो तुम्हें उठाकर बाहर फेंक दूंगा ।' इसके साथ ही एक जोरदार घूंसा उसने चन्दर की छाती पर दे मारा । चन्दर की आवाज़ को जैसे डंक मार गया हो । वह कुछ भी बोल नहीं पाया ।

नत्थू इस बोझिल हो आए वातावरण को तोड़ते हुए बोला—'जानता है आज नगर-पालिका ने शहर के सभी यतीम कुत्तों को मार डाला लेकिन दीनू धोबी का कुत्ता बच गया । एक बार वह उन लोगों को दिख गया लेकिन वह ऐसे भागा कि किसी के हाथ ही नहीं आया ।' इतना कह कर वह जोर-जोर से हंसने लगा । जबकि वह समझ रहा था इसमें इतना हसने की कोई बात नहीं है । नत्थू की देखा-देखी चन्दर भी उसी तरह हंसने लगा लेकिन वह जानता था नत्थू की तरह उसका हंसना बेमानी नहीं है ।

नत्थू का हंसना जल्दी ही खुर्राटों में बदल गया, लेकिन चन्दर की आंखों में नींद का नामोनिशान न था । बाहर बारिश बहुत तेज हो गई थी । जाने उसके मन में क्या आया ? उसने सारे कपड़े उतार डाले और दरवाजा खोल कर बारिश के बीच जा खड़ा हुआ ।

कुकड़नाग में एन० सी० सी० का कैम्प लगा हुआ था । एक शाम पगडंडी छोड़ चन्दर ने पहाड़ी पर चढ़ना शुरू कर दिया था । चारों तरफ बादलों के टुकड़े घिर आए थे । लेकिन वह चढ़ता ही गया था । नीचे दूर से उसे 'चन्दर-चन्दर' पुकारने की आवाज़ें सुनाई दी थीं । उसने कोई ध्यान नहीं दिया था । जब उसे अपने पैर भी दिखाई नहीं दिये तो वह रुक गया था । धुंध से वह सिर से पैरों तक गीला हो गया था । बादल छटने पर चन्दर ने देखा था कि यदि उसका एक कदम भी आगे बढ़ा होता तो दूसरी ओर गहरी खाई में जा गिरता, जहां उसकी लाश तक भी किसी को न मिलती । आज फिर वह उसी शाम में खो जाना चाहता है । एक बार फिर मौत को अपने सामने खड़ा हुआ देखना चाहता है··· ।

———

—द्वारा मयूर शाह
बी १८३/४, गवर्नमेंट कॉलोनी, बांद्रा (पूर्व)
बंबई—५१

आपकी बात

●

श्रंक : ५७

● लेखों का क्रम राष्ट्रीय से श्रांचलिक लगा। तब पढ़ी ठाकुर रवीन्द्र की उक्ति मन में कौंध गई—"हम अपने गांव की नदी से प्रारम्भ हो जाएं तो समुद्र तक पहुंच जाते हैं"।

डॉ० तृच्छल की 'मेरा नाम तेरा नाम' की समीक्षा पठनीय है। विशेष रूप से आज के लेखकों की मानसिकता के सन्दर्भ में उठाए गए सवालों के बारे में सोचना होगा।

डॉ० रामदरश मिश्र के लेख का शीर्षक मेरे विचार से "जन संस्कृति और हिन्दी साहित्य" अधिक उपयुक्त होता। लोकाभिव्यक्ति का चाहे कोई भी रूप हो – लोक संस्कृति, साहित्य, विश्वास—प्रकृत तत्त्व की विद्यमानता और अहं चेतना विहीनता उसकी प्रमुख विशेषता है। जन वृहत्तर समुदाय का सूचक है। जन साहित्य अथवा संस्कृति का अर्थ कदापि लोकसाहित्य अथवा संस्कृति नहीं हो सकता। लेख में आई पंक्तियां " किन्तु श्राधुनिक काल में श्राकर लोकसाहित्य अपने समय की बेचैनियों से जुड़ जाता है…" और " लोकसाहित्य की एक सशक्त विधा है लोकगीत…" इस बात की ओर इशारा करती हैं कि हिन्दी साहित्य में कुछ विद्वान लोकसाहित्य (*Folk lore*) के बारे में कुछ गलत दृष्टिकोण, एक गलत धारणा श्रपनाए बैठे हैं। लोकसाहित्य फोक लोर के लिए एक पारिभाषिक शब्द के रूप में अपनाया तो गया है पर इसका अर्थ यह नहीं कि लोक साहित्य, साहित्य का कोई रूप है। लोक साहित्य वास्तव में एक परम्परा है, एक अभि यक्ति है। उसे साहित्य शब्द की मानसिकता के साथ हिन्दी में अपनाना युक्तिसंगत नहीं होगा। विधा शब्द भी केवल उन साहित्यिक कृतियों के लिए प्रयुक्त होता है जिनकी रचना का उद्देश्य पूर्व निश्चित-सा हो। लोक साहित्य का कोई भी रूप—जब तक वह मौखिक है—लोक मानस की सह अभिव्यक्ति/मिथ के कारण ही हमें मिलता है। उसमें न कोई आग्रह है न कोई प्रयत्न। इस लिए उसे साहित्य समझना या उसके किसी रूप को साहित्य की एक विधा समझ कर उसकी जांच पड़ताल करना कहां तक उचित है यह सचमुच विचारणीय है।

'आपकी बात' के अन्तर्गत अशोक जेरथ की लिखी उनकी शीराज़ा ५६ की प्रतिक्रिया भी पढ़ने को मिली और उनकी यह पंक्ति भी कि प्रियतम चन्द्र का लेख...पठनीय है। कृपा कर यह प्रकाशित कर उन तक पहुंचा दीजिए कि लगता है "कोआनो नर्द" के लेखक की तरह उनकी दृष्टि भी कुछ कमज़ोर हो गई है या कुछ महत्त्व पाने की आकांक्षा में कुछ अधिक व्यापक। फिर भी उन्हें मालूम तो होना ही चाहिए कि 'चन्द्र' और 'कृष्ण' में उतना ही अन्तर है जितना शास्त्री और कौल में, जितना एम० ए० संस्कृत और एम० ए० हिन्दी में, जितना उनसे सम्बंधित संस्था के किसी कार्यवाहक सभापति और एक सहयोगी अध्यापक में। इस बात से शायद कोई फर्क न पड़े कि हिन्दी की किसी आंचलिक मासिक पत्रिका में किसी लेखक की रचना किसी दूसरे के नाम से छप जाए पर जेरथ सरीखे साहित्यकार को 'कुछ' लिखते समय अधिक सतर्कता बरतनी होगी।

—**डॉ० प्रियतम कृष्ण**, डिग्री कालेज, पुंछ–१८५१०१

अंक : ५८

- हरदयाल का लेख ईमानदारी और आस्था की दृढ़ता के साथ तथ्यों और सत्यों का पुनराकलन करता है इसलिए निष्कर्ष स्पष्ट और संतोषप्रद हैं। समकालीन और प्राचीन साहित्य, दोनों के पीछे रचयिता की समाजचेतना एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती रही है, इस बात की ओर इंगित करना स्वचेतन लेखन के स्वस्थ विकास को स्वीकारना है। क्षमा कौल की लेखन और चिंतन यात्रा में एक स्पष्ट परिवर्तन नज़र आ रहा है—जब वे अपनी 'कैसी' लालसा को समझना चाहती हैं। यह 'कैसापन' अपने परिवेश के प्रति रोमानी जिज्ञासा का संकेतक नहीं बल्कि अपनी विगत दुविधा की जटिलता से निकलने का प्रयास है और इत्तफाक से डॉ० आदर्श की कविता में इसी अनुभूति की अनुगूंज मिलती है। भावना के उत्सों और परिप्रेक्ष्य की विभिन्नता के बावजूद दोनों कविताओं में वैचारिक प्रतिबद्धता की प्रवृत्ति है जो डॉ० हरदयाल के अग्रलेख को पुष्ट करती है। क्या यह मात्र संयोग है कि आपने 'अपनी बात' में लेखक-संपादक के एक भिन्न संदर्भ में कहा है कि 'यदि हमें साहित्य की गरिमा और उसके सौंदर्य को बनाए रखना है तो अपने परिवेश के आग्रहों के प्रति जवाबदेह होकर साहित्य सृजन करना होगा...?' चिंतन प्रधान और प्रेरक सामग्री को देता रहे शीराज़ा, यह मनोकामना है।

—**डॉ० रतन लाल शांत ; ५५** बडियारबाला, श्रीनगर

- पंजाबी कहानी 'पुराना किला' सधी कलम की गवाही है। 'विद्रोह का एक क्षण'—बनावटी क्षण बनकर रह गया है।

'परिचय' की शुरुआत एक अच्छी कोशिश है— बधाई! पाठकों को इससे जम्मू-कश्मीर के हिन्दी लेखकों के सम्बन्ध में विस्तार से (उनको व उनके लेखन को) जानने-समझने में सहायता मिलेगी। भाई अशोक जेरथ का 'युवा कवि बलनील देवम्' नामक जो लेख

शीराज़ा में आया है, उससे बलनील देवम् के लेखन को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है तथा कवि एक समूचे रूप में हमारे सामने उभरता है। बेहतर होता यदि लेख के चतुर्थ खण्ड में भाई जेरथ राजनीतिक पैंतरेबाजी न दर्शाते क्योंकि हमारे देश में अभी इस तरह की अनगिनत पत्रिकाएं हैं जहां देवम्, जेरथ व आदर्श जैसे लोगों को 'प्रकाशित होने का अधिकार' है पर हो नहीं पाते हैं। कारण चाहे सम्पादक की दृष्टि हो या लेखक की कमजोरी। यदि यहां कवि से सम्पादक का वास्तविक मनमुटाव ही होता तो यह निश्चित है कि उसी कवि पर भाई जेरथ यह लेख हिन्दी शीराज़ा में प्रकाशित न करवा पाते। कवि का व्यक्तित्व 'शीराज़ा' में न छपने पर भी उभर सकता है। इसी अंक में छपी कृष्णा सोबती की पक्तियां काबिलेगौर हैं (भाई जेरथ के लिये विशेषता) और इसी सन्दर्भ में देखी जा सकती हैं कि—"अपनी व्यक्तिगत सीमाओं का अतिक्रमण करके जब आप कोई चीज़ देखते हैं, देखना चाहते हैं, तभी आप शायद वह बड़ा भी लिखते हैं जो साहित्य के सन्दर्भ में व्यापक होता है।

—**डॉ आदर्श** ; मेडिकल ऑफीसर, जिब, उधमपुर (ज० क०)

- कश्मीर और जम्मू के युवा कवियों के समीक्षात्मक अनुशीलन का क्रम भविष्य में भी जारी रख सकें तो अधिक उपयोगी रहेगा।

—**डॉ० निज़ामुद्दीन**, इस्लामिया कालेज, श्रीनगर

- डॉ० अनिल गोयल, राजकुमार तथा डॉ० प्राणनाथ तृच्छल के लेखों ने विशेष रूप से प्रभावित किया।

—**अर्जुनदेव मजबूर** ; पो० ज़ैनापुरा, कश्मीर

- आप सामग्री को विविधतापूर्ण और स्तरीय बनाने की कोशिश कर रहे हैं। इस प्रयास में काफी हद तक सफलता भी आपको मिल रही है।

अपने सम्पादकीय में जो प्रश्न आपने उठाए हैं, वे उन 'बड़ी' पत्रिकाओं के माध्यम से आने चाहिए जो सही और साफगोई करने वाले पत्रों को 'ऐसे भी पत्र आते हैं' कहकर छापती हैं और बैसाखियों के सहारे चल रही हैं। इस निराशाजनक वातावरण में शीराज़ा अपना धर्म निभा रही है।

शीराजा के इस अंक में रीता भारतीय का कृष्णा सोबती से जो साक्षात्कार छपा है, उसमें सोबती ने जो ज़िन्दगीनामा की भाषा की पैरवी की है, वह बहुत 'डिफेंसिव' लगती है। प्रेमचन्द की भाषा में सम्प्रेषण की क्षमता है—यह बात सोबती ने भी मानी है; उन्होंने यह भी माना है कि आधा गांव पहली बार पढ़ने और पढ़ कर समझने में उन्हें कठिनाई का अनुभव हुआ। मेरे ख्याल में अपना बचाव किए बिना यह मान लेना चाहिए कि जहां भाषा पात्र की सहज भाषा बनकर सामने आती है, वहां वह लेखन की खूबी है, जहां बलात् ठोंसा हुआ अनुवाद जान पड़ती है, वहां कमज़ोरी है।

—**डॉ० ओम प्रकाश गुप्त**, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

- शीराज़ा–५८ में डॉ० हरदयाल का लेख 'साहित्य में संघर्ष और परिवर्तन' बेहद अच्छा लगा। डॉ० हरदयाल इसे बुरा न मानें तो मुझे अब तक उनके कवि से उनके भीतर का शांतचित्त और निष्पक्ष आलोचक ही प्रभावित करता आया है। उनका यह कथन सुखद लगा कि सच्चा साहित्यकार और उसका साहित्य समसामयिक सामाजिक स्थितियों से अविच्छिन्न होता हुआ भी वह अपने समकालीन समाज का प्रतिबिम्ब मात्र ही नहीं होता, उसे अपने आदर्शों के अनुरूप बदलना चाहता है। बन्धुवर बलनील देवम् के अब तक के व्यक्तित्व और कृतित्व को कई बरसों से जानना चाहता था, सो आपने सहज ही उपलब्ध करा दिया है। कश्मीर के युवा कवि उपेन्द्र रैणा को एक कवि की हैसियत के बगैर भी मैं औरों से अधिक जानता हूं। तथापि डॉ० निज़ाम उद्दीन ने (अशोक जेरथ की बलनील देवम् के कवि को उभारने की चेष्टा से अधिक अच्छे ढंग से) कवि के चिन्तन-पक्ष को पकड़ा है। समझ में नहीं आता कृष्णा सोबती से रीता भारतीय के पूछे प्रश्न आपको पत्रिका के लिए कैसे स्तरीय लगे?

  —**अग्निशेखर**, १६१–सथूबाला, श्रीनगर–१६०००१

- निरन्तर अच्छे अंक निकालते रहने के लिए बधाई!

  — **डॉ० नरेन्द्र मोहन**, २३६–डी, एम० आई० जी० फ्लैट्स
  राजौरी गार्डन, नई दिल्ली–११००२७

- अपने लेख "अनाटक : पालने से मरघट तक ???" में डॉ० चन्द्रशेखर एक ओर तो यह कहते हैं कि "जीवनगत विद्रूपता, विरूपता, विसंगतिजन्य वीभत्स और कुत्सा !— इन सबके उरेहण के लिए विधाओं में इन सबका रूपांतरण हुआ है। हिन्दी में **अनाटक** का समारम्भ भी ऐसी ही दिशाओं में हुआ है। ···१६६३ के आसपास हिन्दी में **अनाटक** का समारम्भ होने लगता है (पृ० ३०)"; वहीं दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं, "१६७० तक आकाशवाणी से प्रसारित होने वाले नाटकों को केवल सुविधा के लिए ध्वनि-नाटक के नाम से ही जाना जाता था···सम्भवतः सबसे पहले मैंने ही इस बुढ़िया रही विधा के लिए एक नाम तजवीज़ किया था—**अनाटक**। ···अनाटक अपने विदेशी अर्थ की तरह नाटक विरोधी नहीं माना गया है। इसकी संकलपना के पीछे एक स्वतंत्र दृष्टि रही है।" (पृ० ३६) ऐसे में समझ नहीं आता कि जिन "अनाटकों" के नाम डॉ० चन्द्रशेखर ने गिना कर अनाटक का गौरव बढ़ाने का प्रयास किया—वे किस दृष्टि से "अनाटक" हैं?

  डॉ० माधवी यासीन का लेख अच्छा लगा।

  —**सत्यपाल शास्त्री**, पीरमिट्ठा, जम्मू

पुस्तकें और पुस्तकें

प्राप्ति स्वीकार

पिछले दिनों शीराज़ा में समीक्षार्थ हमें निम्नलिखित पुस्तकें प्राप्त हुई। इन पर विद्वान् लेखकों की समीक्षाएं यथासुविधा शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित करने का हमारा प्रयत्न रहेगा। फिर भी, पाठकों की जानकारी के लिए इनका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है—

१. **ललद्यद**—**ले०** जया लाल कौल ; **अनु०** : शिबन कृष्ण रैणा ; **प्र०** : साहित्य अकादेमी, ३५, फीरोजशाह रोड, नई दिल्ली ; मूल्य : १२ रुपये

२. **कलाकार के आंसू**- (कहानी संग्रह) ; **ले०** : राज भल्ला; **प्र०** : भल्ला प्रकाशन, रिहाड़ी कालोनी, जम्मू ; मूल्य : १५ रुपये

३. **रंगभूमि नये आयाम** (समीक्षा)—**ले०** : कमल किशोर गोयनका ; **प्र०** : नचिकेता प्रकाशन, १६८७/४, मुलतानी डांडा, पहाड़गंज, नई दिल्ली—११००५५ ; मूल्य : चालीस रुपये

४. **गुलेरी जी की अमर कहानियां** (कहानी संग्रह) ; सम्पादक : डॉ० विद्याधर शर्मा गुलेरी ; **प्र०** : कृष्णा ब्रदर्स, महात्मा गांधी मार्ग, अजमेर ; मूल्य : सत्ताइस रुपये

५. **रंग बदलते हुए** (कविता संग्रह) ; **ले०** : अमित ; **प्र०** : मसोगी प्रकाशन, II ए/३३, पूसा, नयी दिल्ली-११००१२ ; मूल्य : पंद्रह रुपये

६. **पानी गाने लगा** (कविता संग्रह) ; **ले०** : जीवन प्रकाश जोशी ; **प्र०** : संधान प्रकाशन, एस-१२/६६६, रामकृष्ण पुरम्, नई दिल्ली-११००२२ ; मूल्य : सोलह रुपये

७. **जिसे सब जिएं** (कविता संग्रह) ; **ले०** : अश्विनी ; **प्र०** : संधान प्रकाशन, नई दिल्ली-११००२२ ; मूल्य : पद्रह रुपये

८. **मुझे बोलने दो** (कविता संग्रह) ; **ले०** : अब्दुल बिस्मिल्लाह ; **प्र०** : युगबोध प्रकाशन, ए-२४/१५, कोयला बाज़ार, वाराणसी ; मूल्य : पांच रुपये

हम जिस दौर से गुजर रहे हैं, उसमें अन्य चीजों की तरह साहित्य का भी व्यापारीकरण हो रहा है। इसका प्रभाव रचनाकार पर तथा समीक्षक—दोनों पर है।

दोनों में लापरवाही आई है। अपने कर्म के प्रति लगाव कम हुआ है। ज्यादातर ध्यान बाज़ार की ओर रहता है।

—**डॉ० रामविलास शर्मा**